णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

संग्राहक और अनुवादक

जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि
श्री चौथमलजी महाराज

प्रकाशक

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति
रतलाम

द्वितीयावृत्ति १००० | मूल्य आठ आना | वी० २४६१ वि० १९९२

मुद्रकः-श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम.

के

जन्म दाता

श्रीमान् प्रसिद्धवक्ता पंडित मुनि
श्री चौथमलजी महाराज

सदस्य गण

स्तम्भ

श्रीमान् दानवीर रा. ब. सेठ कुंदनमलजी लालचन्दजी ब्यावर
" " सेठ नेमीचंदजी सरदारमलजी नागपुर
" सेठ सरूपचंदजी भागचंदजी ललवानी कलमसरा
" " पुनमचंदजी चुन्नीलालजी कटारिया न्यायडोंगरी
" " बहादरमलजी सूरजमलजी धोका यादगिरी
" " तखतमलजी सौभागमलजी महेता जावरा

संरक्षक

" " प्रेमलजी लालचंदजी गुलेदगढ
" " लाला रतनलालजी मित्तल आगरा
" " उदेचंदजी छोटमलजी मूथा उज्जैन
" " छोटेलालजी जेठमलजी कोठारी कनेरा (मेवाड़)

श्रीमान्	वकील मोहनलालजी नाहर	उदयपुर
"	वकील रतनलालजी सर्राफ	उदयपुर
"	सेठ कालूरामजी कोठारी	ब्यावर
"	" कुंदनमलजी सरूपचंदजी	ब्यावर
"	" देवराजजी सुराने	ब्यावर
"	" नाथूलालजी छगनलालजी दूगड़	मल्हारगढ़
"	" ताराचंदजी डाहाजी पुनमिया सादड़ी	(मारवाड़)
श्री महावीर जैन नवयुवक मंडल, चित्तौड़गढ़		(मेवाड़)
श्री श्वे० स्था० जैन श्रीसंघ		बड़ी सादड़ी (मेवाड़)
श्रीमती	पिस्ताबाई, लोहामन्डी	आगरा
"	राजीबाई, बरोरा	सी० पी०
"	अनारबाई, लोहामन्डी	आगरा
"	चन्द्रपतिबाई	सब्जीमंडी, देहली

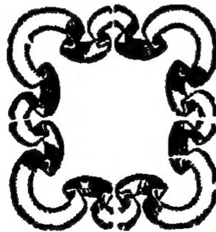
सहायक

श्रीमान्	सेठ चम्पालालजी अलीजार	ब्यावर
"	" जुहारमलजी हेमाजी सादड़ी वाले	पूना

मेम्बर

"	" रूपचंदजी ओसवाल	इन्दौर
"	" हजारीमलजी नागूलालजी बाफणा	बालोदा
"	" मन्नालालजी चांदमलजी	ताल
"	" चम्पालालजी छगनलालजी कुहाल	मन्दसौर
"	" खेमचंदजी जड़ावचंदजी मुराड़िया	मन्दसौर
"	" हुकमीचंदजी शिवलालजी पोरवाड़	मन्दसौर
"	" सजनराजजी साहब	ब्यावर
"	" चंदनमलजी मिश्रीमलजी गुलेछा	ब्यावर

श्रीमान् सेठ मिश्रीमलजी बाबेल	ब्यावर
,, ,, रिखबदासजी खींवेसरा	ब्यावर
,, ,, हरदेवमलजी सुवालालजी	ब्यावर
,, ,, दौलतरामजी बोगावत	भोपाल
,, ,, छगनलालजी सोजतिया	उदयपुर
,, ,, छगनमलजी वस्तीमलजी	ब्यावर
,, ,, रिखबदासजी बालचंदजी	बम्बई
,, ,, चुन्नीलालजी भाईचंदजी	बम्बई
,, ,, रसिकलालजी हीरालालजी	बम्बई
,, ,, सेंसमलजी जीवराजजी देवड़ा	औरंगाबाद
,, ,, पनजी दौलतरामजी भण्डारी	अहमदनगर
,, ,, पुखराजजी नहार	बम्बई
,, ,, रतनचन्दजी हीराचन्दजी	बांदरा बम्बई
श्री श्वे० स्थानकवासी जैन श्री संघ	नाई (मेवाड़)
श्री जैन महावीर मंडल,	गरोठ (होल्कर स्टेट)





निर्ग्रन्थ प्रवचन-माहात्म्य

किंपाक फल बाहरी रंग-रूप से चाहे जितना सुन्दर और मनोमोहक दिखलाई पड़ता हो परन्तु उसका सेवन परिणाम में दारुण दुःखों का कारण होता है। संसार की भी यही दशा है। संसार के भोगोपभोग, आमोद प्रमोद, हमारे मन को हरण कर लेते हैं। एक दरिद्र, यदि पुण्योदय से कुछ लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है तो मानों वह कृतकृत्य हो जाता है। संतान की कामना करने वाले को यदि संतान-प्राप्ति हो गई तो, बस वह निहाल हो गया। जो अदूरदर्शी हैं, बहिरात्मा हैं, उन्हें यह सब सांसारिक पदार्थ मूढ़ बना देते हैं। कंचन और कामिनी की माया उसके दोनों नेत्रों पर अज्ञान का ऐसा पर्दा डाल देती है कि उसे इनके अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। यह माया मनुष्य के मन पर मदिरा का सा किन्तु मदिरा की अपेक्षा अधिक स्थायी प्रभाव डालती है। वह बेभान हो जाता है। ऐसी दशा में वह जीवन के लिए मृत्यु का आलिंगन करता है, अमर बनने के लिए ज़हर का पान करता है, सुखों की प्राप्ति की इच्छा से भयंकर दुःखों के जाल की रचना करता है। मगर उसे जान पड़ता है, मानों वह दुःखों से दूर होता जाता है।

अन्त में एक ठोकर लगती है। जिसके लिए मरे पचे, खून का पसीना बनाया, वही लक्ष्मी लात मार कर अलग जा खड़ी होती है। जिस संतान के सौभाग्य का उपभोग करके फूले न समाते थे; आज वही संतान हृदय के मर्म

स्थान पर हज़ारों चोटें मार कर न जाने किस ओर चल देती है। वियोग का वज्र ममता के शैल-शिखर को कभी-कभी चूर्ण विचूर्ण कर डालता है। ऐसे समय में यदि पुण्योदय हुआ तो आँखों का पर्दा दूर हो जाता है और जगत् का वास्तविक स्वरूप एक बीभत्स नाटक की तरह नज़र आने लगता है। वह देखता है—आह ! कैसी भीषण अवस्था है। संसार के प्राणी मृग मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हैं, हाथ कुछ आता नहीं। "अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा" मिथ्या आकांक्षाएँ पीछा नहीं छोड़तीं और आकांक्षाओं के अनुकूल अर्थ की कभी प्राप्ति नहीं होती। यहाँ दुःखों का क्या ठिकाना है ? प्रातःकाल जो राजसिंहासन पर आसीन थे, दोपहर होते ही वे दर-दर के भिखारी देखे जाते हैं। जहाँ अभी रंग रेलियाँ उड़ रही थीं वहीं क्षण भर में हाय हाय की चीत्कार हृदय को चीर डालती है। ठीक ही कहा है—" काहू घर पुत्र जायो काहू के वियोग आयो, काहू राग रंग काहू रोआ रोई परी है।"

गर्भवास की विकट वेदना, व्याधियों की धमाचौकड़ी, जरा-मरण की व्यथाएँ, नरक और तिर्यञ्च गति के अपरम्पर दुख ! ! सारा संसार मानों एक विशाल भट्टी है और प्रत्येक संसारी जीव उसमें कोयले की नांई जल रहा है ! !

वास्तव में संसार का यही सच्चा स्वरूप है। मनुष्य जब अपने आन्तरिक नेत्रों से संसार को इस अवस्था में देख पाता है तो उसके अन्तः करण में एक अपूर्व संकल्प उत्पन्न होता है। वह इन दुःखों की परम्परा से छुटकारा चाहने का उपाय खोजता है। इन दारुण आपदाओं से मुक्त होने की उसकी आन्तरिक भावना जागृत हो उठती है। जीव की

इसी अवस्था को 'निर्वेद' कहते हैं। जब संसार से जीव विरक्त या विमुख बन जाता है तो वह संसार से परे-किसी और लोक की कामना करता है-मोक्ष चाहता है।

मुक्ति की कामना के वशीभूत हुआ मनुष्य किसी 'गुरु' का अन्वेषण करता है। गुरुजी के चरण-शरण होकर वह उन्हें आत्मसमर्पण कर देता है। अबोध बालक की भाँति उनकी अंगुलियों के इशारे पर नाचता है। भाग्य से यदि सच्चे गुरु मिल गए तब तो ठीक नहीं तो एक बार भट्टी से निकल कर फिर उसी भट्टी में पड़ना पड़ता है।

तब उपाय क्या है? वे कौन से गुरु हैं जो आत्मा का संसार से निस्तार कर सकने में सक्षम हैं? यह प्रश्न प्रत्येक आत्महितैषी के समक्ष उपस्थित रहता है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन इस प्रश्न का संतोष जनक समाधान करता है और ऐसे तारक गुरुओं की स्पष्ट व्याख्या हमारे सामने उपस्थित कर देता है।

संसार में जो मतमतान्तर उत्पन्न होते हैं, उनके मूल कारणों का यदि अन्वेषण किया जाय तो मालूम होगा कि कषाय और अज्ञान ही इनके मुख्य बीज हैं। शिव राजर्षि को अवधिज्ञान, जो कि अपूर्ण होता है, हुआ। उन्हें साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कुछ अधिक बोध होने लगा। उन्हों ने मध्यलोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों में से सात द्वीप-समुद्र ही जान पाये। लेकिन उन्हें ऐसा भास होने लगा मानों वे सम्पूर्ण ज्ञान के धनी हो गए हैं और अब कुछ भी जानना शेष नहीं रहा। बस, उन्होंने यह घोषणा कर दी कि सात ही द्वीप समुद्र हैं—इनसे अधिक नहीं। तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति कुज्ञान या अज्ञान के द्वारा पदार्थ के

वास्तविक स्वरूप को पूर्ण रूप से नहीं जान पाता और साथ ही एक धर्म प्रवर्त्तक के रूप में होने वाली प्रतिष्ठा के लोभ को संवरण भी नहीं कर पाता तब वह सनातन सत्य मत के विरुद्ध एक नया ही मत जनता के सामने रख देता है और भोली भाली जनता उस भ्रममूलक मत के जाल में फँस जाती है।

विभिन्न मतों की स्थापना का दूसरा कारण कषायोद्रेक है। किसी व्यक्ति में कभी कषाय की बाढ़ आती है तो वह क्रोध के कारण, मान-बड़ाई के लिए अथवा दूसरों को ठगने के लिए या किसी लोभ के कारण, एक नया ही सम्प्रदाय बना कर खड़ा कर देता है। इस प्रकार अज्ञान और कषाय की करामात के कारण मुमुक्षु जनों को सच्चा मोक्ष-मार्ग ढूँढ़ निकालना अतीव दुष्कर कार्य हो जाता है। कितने ही लोग इस भूलभूलैया में पड़कर ही अपने पावन मानव जीवन को यापन कर देते हैं और कई झुंझला कर इस ओर से विमुख हो जाते हैं।

'जिन खोजा तिन पाइया' की नीति के अनुसार जो लोग इस बात को भलीभाँति जान लेते हैं कि सब प्रकार के अज्ञान से शून्य अर्थात् सर्वज्ञ और कषायों को समूल उन्मूलन करने वाले अर्थात् वीतराग, की पदवी जिन महानुभावों ने तीव्र तपश्चरण और विशिष्ट अनुष्ठानों द्वारा प्राप्त कर ली है, जिन्होंने कल्याणपथ-मोक्षमार्ग-को स्पष्ट रूप से देख लिया है, जिनकी अपार करुणा के कारण किसी भी प्राणी का अनिष्ट होना संभव नहीं और जो जगत् को पथ-प्रदर्शन करने के लिए अपने इन्द्रवत् स्वर्गीय वैभव को तिनके की तरह त्याग कर अकिञ्चन बने हैं, उनका बताया

हुआ—अनुभूत—मोक्षमार्ग कदापि अन्यथा नहीं हो सकता, वह मुक्ति के मंगलमय मार्ग में अवश्य प्रवेश करता है और अन्त में चरम पुरुषार्थ का साधन करके सिद्ध-पदवी का अधिकारी बनता है। इन्हीं पूर्वोक्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग और हितोपदेशक महानुभावों को 'निग्गंठ' निग्गंथ, या निर्ग्रन्थ कहते हैं। भौतिक या आधिभौतिक परिग्रह की दुर्भेद्य ग्रंथि को जिन्होंने भेद डाला हो, जिनकी आत्मा पर अज्ञान या कषाय की कालिमा लेशमात्र भी नहीं रही हो, इसी कारण जो स्फटिक मणि से भी अधिक स्वच्छ हो गई हो, वही 'निर्ग्रंथ' पद को प्राप्त करता है।

प्रत्येक काल में, प्रत्येक देश में और प्रत्येक परिस्थिति में निर्ग्रंथों का ही उपदेश सफल और हितकारक हो सकता है। यह उपदेश सुमेरु की तरह अटल, हिमालय की तरह संताप निवारक-शांति प्रदायक, सूर्य की तरह तेजस्वी और अज्ञानान्धकार का हरण करने वाला, चन्द्रमा की तरह पीयूष-वर्षण करने वाला और आह्लादक, सुरतरु की तरह सकल संकल्पों का पूरक, विद्युत् की तरह प्रकाशमान्, और आकाश की भाँति अनादि अनन्त और असीम है। वह किसी देशविशेष या कालविशेष की सीमाओं में आबद्ध नहीं है। परिस्थितियाँ उसके पथ को प्रतिहत नहीं कर सकतीं। मनुष्य के द्वारा कल्पित कोई भी श्रेणी, वर्ण, जाति पांति या वर्ग उसे विभक्त नहीं कर सकता। पुरुष हो या स्त्री, पशु हो या पक्षी, सभी प्राणियों के लिए वह सदैव समान है—सब अपनी अपनी योग्यता के अनुसार उस उपदेश का अनुसरण कर सकते हैं। संक्षेप में कहें तो यह कह सकते हैं कि निर्ग्रंथों का प्रवचन सार्व है, सार्वजनिक है,

सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है और सर्वार्थ साधक है।

निर्ग्रंथों का प्रवचन आध्यात्मिक-विकास के क्रम और उसके साधनों की सम्पूर्ण और सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या हमारे सामने प्रस्तुत करता है। आत्मा क्या है? आत्मा में कौन-कौन सी और कितनी शक्तियाँ हैं? प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाली आत्माओं की विभिन्नता का क्या कारण है? यह विभिन्नता किस प्रकार दूर की जा सकती है? नारकी और देवता, मनुष्य और पशु आदि की आत्माओं में कोई मौलिक विशेषता है या वस्तुतः वे समान-शक्ति शाली हैं? आत्मा की अधस्तम अवस्था क्या है? आत्म विकास की चरम सीमा कहाँ विश्रान्त होती है? आत्मा के अतिरिक्त परमात्मा कोई भिन्न है या नहीं? यदि नहीं तो किन उपायों से किन साधनाओं से आत्मा परमात्म पद पा सकता है? इत्यादि प्रश्नों का सरल, सुस्पष्ट और संतोषप्रद समाधान हमें निर्ग्रंथ-प्रवचन में मिलता है? इसी प्रकार जगत् क्या है? वह अनादि है या सादि? आदि गहन समस्याओं का निराकरण भी हम निर्ग्रंथप्रवचन में देख पाते हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि निर्ग्रंथों का प्रवचन किसी भी प्रकार की सीमाओं से आबद्ध नहीं है। यही कारण है कि वह ऐसी व्यापक विधियों का विधान करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से अत्युत्तम तो हैं ही; साथ ही उन विधानों में से ऐहलौकिक सामाजिक सुव्यवस्था के लिए सर्वोत्तम व्यवहारोपयोगी नियम भी निकलते हैं। संयम, त्याग, निष्परिग्रहता (और श्रावकों के लिए परिग्रहपरिमाण) अनेकान्तवाद और कर्मादानों की त्याज्यता प्रभृति ऐसी ही कुछ विधियाँ हैं, जिनके न अपनाने के कारण आज

समाज में भीषण विशृंखला दृष्टिगोचर हो रही है। निर्ग्रन्थों ने जिस मूल आशय से इन बातों का विधान किया है उस आशय को सन्मुख रखकर यदि सामाजिक विधानों की रचना की जाए तो समाज फिर हरा-भरा, सम्पन्न, सन्तुष्ट और सुखमय बन सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो इन विधानों का महत्व है ही पर सामाजिक दृष्टि से भी इनका उससे कम महत्व नहीं है। संयम, उस मनोवृत्ति के निरोध करने का अद्वितीय उपाय है जिससे प्रेरित होकर समर्थ जन आमोदप्रमोद में समाज की सम्पत्ति का* स्वाहा करते हैं। त्याग एक प्रकार के बँटवारे का रूपान्तर है। परिग्रह परिमाण और भोगोपभोग परिमाण, एक प्रकार के आर्थिक साम्यवाद का आदर्श हमारे सामने पेश करते हैं; जिनके लिए आज संसार का बहुत सा भाग पागल हो रहा है। विभिन्न नामों के आवरण में छिपा हुआ यह सिद्धान्त ही एक प्रकार का साम्यवाद है। यहाँ पर इस विषय को कुछ अधिक लिखने का अवसर नहीं है,—तथापि निर्ग्रंथ-प्रवचन समाज को एक बड़े और आदर्श कुटुम्ब की कोटि में रखता है, यह स्पष्ट है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद मतमतान्तरों की मारामारी से मुक्त होने का मार्ग निर्देश करता है और निर्ग्रंथों की अहिंसा के विषय में कुछ कहना तो पिष्टपेषण ही है। अस्तु।

निर्ग्रंथ-प्रवचन की तासीर उन्नत बनाना है। नीच से

---

* क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक एक अंग है अतः उसकी व्यक्तिगत कही जाने वाली सम्पत्ति भी वस्तुतः समाज की सम्पत्ति है।

नीच, पतित से पतित, और पापी से पापी जो यदि निर्ग्रन्थ-प्रवचन की शरण में आता है तो उसे भी वह अलौकिक आलोक दिखलाता है, उसे सन्मार्ग दिखलाता है और जैसे धाय माता गंदे बालक को नहला-धुलाकर साफ-सुथरा कर देती है उसी प्रकार यह मलीन से मलीन आत्मा के मैल को हटाकर उसे शुद्ध-विशुद्ध कर देता है। हिंसा की प्रतिमूर्त्ति, भयंकर हत्यारे अर्जुन माली का उद्धार करने वाला कौन था? अंजन जैसे चोरों को किसने तारा है? लोक जिसकी परछाई से भी घृणा करता है ऐसे चाण्डाल जातीय हरिकेशी को परमादरणीय और पूज्य पद पर प्रतिष्ठित करने वाला कौन है? प्रभव जैसे भयंकर चोर की आत्मा का निस्तार करके उसे भगवान् महावीर का उत्तराधिकारी बनाने का सामर्थ्य किसमें था? इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है और पाठक उसे समझ गए हैं। वास्तव में निर्ग्रन्थ-प्रवचन पतित-पावन है, अशरण-शरण है, अनाथों का नाथ है, दीनों का बन्धु है और नारकियों को भी देव बनाने वाला है। वह स्पष्ट कहता है—

अपवित्रः पवित्रो वा, दुस्स्थितो सुस्थितोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानम्, स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥

जिन मुमुक्षु महर्षियों ने आत्म हित के पथ का अन्वेषण किया है उन्हें निर्ग्रन्थ-प्रवचन की प्रशांत छाया का ही अन्त में आश्रय लेना पड़ा है। ऐसे ही महर्षियों ने निर्ग्रंथ-प्रवचन की यथार्थता, हितकरता और शान्ति-संतोषप्रदायकता का गहरा अनुभव करने के बाद जो उद्गार निकाले हैं वे वास्तव में उचित ही हैं और यदि हम चाहें तो उनके

अनुभवों का लाभ उठाकर अपना पथ प्रशस्त बना सकते हैं। क्या ही ठीक कहा है—

" इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलए, संसुद्धे, पडिपुराणे, णेआउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्ति-मग्ग, निव्वाणमग्गे, णिज्जाणमग्गे, अवितहमसंदिद्धं, सव्व-दुक्खप्पहीणमग्गे, इहट्ठियाजीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।"

यह उद्गार उन महर्षियों ने प्रकट किये हैं जिन्होंने कल्याणमार्ग की खोज करने में अपना सारा जीवन अर्पण करदिया था और निर्ग्रंथ-प्रवचन के आश्रय में आकर जिनकी खोज समाप्त हुई थी। यह उद्गार निर्ग्रंथ-प्रवचन-विषयक यह स्वरुपोल्लेख, हमें दीपक का काम देता है।

यों तो अनादि काल से ही समय-समय पर पथप्रदर्शक निर्ग्रंथ तीर्थंकर होते आए हैं परन्तु आज से लगभग अढ़ाई हज़ार वर्ष पहले चरम निर्ग्रंथ भ० महावीर हुए थे। उन्होंने जो प्रवचन-पीयूष की वर्षा की थी, उसी में का कुछ अंश यहाँ संग्रहीत किया गया है।

यह निर्ग्रंथ-प्रवचन परम मांगलिक है, आधि-व्याधि-उपाधियों को शमन करने वाला, बाह्याभ्यन्तर रिपुओं को दमन करने वाला और समस्त इह-परलोक संबंधी भयों को निवारण करने वाला है। यह एक प्रकार का महान् कवच है। जहाँ इसका प्रचार है वहाँ भूत पिशाच, डाकिनी शाकिनी आदि का भय फटक भी नहीं सकता। जो इस प्रवचन-पोत पर आरूढ़ होता है वह भीषण विपत्तियों के सागर को सहज ही पार कर लेता है। यह मुमुक्षु जनों के लिए परम सखा, परम पिता, परम सहायक और परम मार्गनिर्देशक है।

अकाराद्यनुक्रमणिका

सांकेतिक शब्दों का खुलासा

(List of Abbreviations)

द=दशवैकालिक सूत्र, अ=अध्याय, गा=गाथा जी=जीवाभिगम सूत्र, प्रक=प्रकरण, उद्दे=उद्देशा उ=उत्तराध्ययन सूत्र, स्था=स्थानाङ्ग सूत्र, प्रश्न=प्रश्न व्याकरण सूत्र, सम=समवायांग सूत्र, सू=सूत्र कृताङ्ग सूत्र, प्रथ=प्रथम, ज्ञा=ज्ञाता धर्मकथाङ्ग सूत्र, आ=आचाराङ्ग सूत्र, द्वि=द्वितीय, भ=भगवती सूत्र, श=शतक।

स	पृष्ठाङ्क	उद्गमस्थान
सक्का सहेउं आसाइ	१८६	[द. अ. ९ उद्दे. ३ गा. ६]
सच्चा तहेव मोसा य	२६२	[उ. अ. २४ गा. २०]
सत्थग्गहणं विसभक्खणं	२८५	[उ. अ. ३६ गा. २६६]
स देवगन्धव्वं मणुस्सपू.	३४६	[उ अ. १ गा. ४८]
सद्दे सु जो गिद्धिमुवेइ	२७५	[उ. अ. ३२ गा. ३७]
सद्धंधयारउज्जोओ	१४	[उ. अ. २८ गा. १२]
समणं संजयं दंतं	२८४	[उ. अ. २ गा. २७]
समरेसु अगारेसु	२८०	[उ. अ. १ गा. २६]
समयाए समणो होई	१२२	[उ. अ. २५ गा. ३२]
समाए पेहाए परिव्वयंतो	२६६	[द अ. २ गा. ४]
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं	२५	[उ. अ. ३३ गा. ९]
सम्मदंसणरत्ता अनियाणा	९९	[उ. अ. ३६ गा. २५६]
सयंभुणा कडे लोए	१९७	[सू. प्रथ. उद्दे. ३ गा. ७]
सरागो वीयरागो वा	२०९	[उ. अ. १४ गा. ३२]
सरीरमाहु नाव त्ति	६	[उ. अ. २३ गा. ७३]
सल्लं कामा विसं कामा	१३२	[उ. अ. ९ गा. ५३]
सवणे नाणे विण्णाणे	२९३	[भ. श. २ उ. ५]
सव्वत्थ सिद्धगा चेव	३२१	[उ. अ. ३६ गा. २१५]
सव्वं तओ जाणइ पासए	३५२	(उ. अ. ३२. गा. १०९)
सव्वं विलवियं गीअं	२३५	(उ. अ. १३ गा. १६)
सव्वे जीवा वि इच्छंति	१४१	(द. अ. ६ गा. ११)
साणं सूइअं गाविं	२२१	(द. अ. ५ उद्दे १ गा. १२)



भूमिका

जिन-देशना आर्यावर्त्त अज्ञात अतीत काल से ऐसे महापुरुषों को उत्पन्न करता रहा है, जिन्होंने इस आधि व्याधि उपाधि के जाल में जकड़े हुए मानव समूह को सत्पथ प्रदर्शित किया है। दीर्घ तपस्वी श्रमण भगवान् महावीर ऐसे ही महान् आत्माओं में से एक थे। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व, जब भारतवर्ष अपनी पुरातन आध्यात्मिकता के मार्ग से विमुख हो गया था, बाह्य कर्मकाण्ड की उपासना के भार से लद रहा था और प्रेम, दया, सहानुभूति, समभाव, क्षमा आदि सात्विक वृत्तियाँ जब जीवन में से किनारा काट रही थीं, तब भगवान् महावीर ने आगे आकर भारतीय जीवन में एक नई क्रान्ति की थी। भगवान् महावीर ने कोरे उपदेशों से यह क्रान्ति की हो, सो बात नहीं है। उपदेश-मात्र से कभी कोई महान् क्रान्ति होती भी नहीं है। भगवान् महावीर राजपुत्र थे। उन्हें संसार में प्राप्त हो सकने वाली सुख-सामग्री सब प्राप्त थी। मगर उन्होंने विश्व के उद्धार के हेतु समस्त भोगोपभोगों को तिनके की तरह त्याग कर अरण्य की शरण ग्रहण की। तीव्र तपश्चरण के पश्चात् उन्हें जो दिव्य ज्योति मिली-उसमें चराचर विश्व अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिभासित होने लगा। तब उन्होंने इस भूले-भटके संसार को कल्याण का प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित किया। भगवान् महावीर के जीवन से हमें इस महत्त्वपूर्ण बात का पता चलता है कि उन्होंने अपने उपदेश में जो कुछ प्रतिपादन किया है वह दीर्घ अनुभव और

अभ्रान्त ज्ञान की कसौटी पर कस कर, खूब जांच पड़ताल कर कहा है। अतएव उनके उपदेशों में स्पष्टता है, असंदिग्धता है, वास्तविकता है।

देशना की सार्वजनिकता श्रमण संस्कृति सदा से मनुष्य जाति की एक रूपता पर जोर देती आ रही है। उसकी दृष्टि में मानव समाज को टुकड़ों में विभक्त कर डालना, किसी भी प्रकार के कृत्रिम साधनों से उसमें भेदभाव की सृष्टि करना, न केवल अवास्तविक है वरन् मानव समाज के विकास के लिए भी अतीव हानिकारक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का भेद हम अपनी सामाजिक सुविधाओं के लिए करें, यह एक बात है और उनमें प्रकृति भेद की कल्पना करके उनकी आध्यात्मिकता पर उसका प्रभाव डालना दूसरी बात है। इसे श्रमण-संस्कृति सहन नहीं करती। यही कारण है कि भगवान महावीर के उपदेश नीच ऊँच, ब्राह्मण अब्राह्मण, सब के लिए समान हैं। उनका उपदेश श्रवण करने के लिए सब श्रेणियों के मनुष्य बिना किसी भेदभाव के उनकी सेवा में उपस्थित होते थे और आज नीच से नीच समझे जाने वाले चाण्डालों को भी महावीर के शासन में वह गौरवपूर्ण पद-प्राप्त हो सकता था जो किसी ब्राह्मण को। जैन शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण अब भी मौजूद हैं जिनसे हमारे कथन की अक्षरशः पुष्टि होती है। भगवान् महावीर का अनुयायीवर्ग आज संसर्ग दोष से अपने आराध्यदेव की इस मौलिक कल्पना को भूलसा रहा है, पर युग उसे जगा रहा है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम भगवान् का दिव्य संदेश प्राणी मात्र के कानों तक पहुंचावें।

सार्वकालिकता भगवान् सर्वज्ञ थे। उनके उपदेश देश काल, आदि की सीमाओं से घिरे हुए नहीं हैं। वे सर्वकालीन हैं, सार्वदेशिक हैं, सार्व हैं। संसार ने जितने अंशों में उन्हें भुलाने का प्रयास किया उतने ही अंशों में उसे प्रकृतिप्रदत्त प्रायश्चित करना पड़ा है। अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं-हम देख सकते हैं कि आज के युग में जो विकट समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हैं, हम जिस भौतिकता के विध्वंसमार्ग पर चले जा रहे हैं, उनके प्रति विद्वानों को असंतोष पैदा हो रहा है। आखिर वे फिर ज़माने को महावीर के युग में मोड़ ले जाना चाहते हैं। सारा संसार रक्तपात से भयभीत होकर अहिंसादेवी के प्रसादमय अंक में विश्राम लेने को उत्सुक हो रहा है। जीवन को संयमशील और आडम्बर हीन बनाने की फिक्र कर रहा है। नीच ऊँच की काल्पनिक दीवारों को तोड़ने के लिए उतारू हो गया है। यही महावीर-प्रदर्शित मार्ग है, जिस पर चले बिना मानव समूह का कल्याण नहीं।

महावीर के मार्ग से विमुख होकर संसार ने बहुत कुछ खोया है। पर यह प्रसन्नता की बात है कि वह फिर उसी मार्ग पर चलने की तैयारी में है। ऐसी अवस्था में हमें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस मार्ग के पथिकों के सुभीते के लिए उनके हाथ में एक ऐसा प्रदीप दे दिया जाय जिससे वे अभ्रान्ति पूर्वक अपने लक्ष्य पर जा पहुंचें। बस, वही प्रदीप यह 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान् महावीर के इस समय उपलब्ध विशाल वाङ्मय से इसका चुनाव किया गया है, पर संक्षिप्तता की ओर भी इसमें पर्याप्त ध्यान रखा है।

अध्यात्म प्रधानता यह ठीक है कि भगवान् महावीर ने आध्यात्मिकता में ही जगत्कल्याण को देखा है और उनके उपदेशों को पढ़ने से स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उनमें कूट-कूट कर आध्यात्मिकता भरी हुई है। उनके उपदेशों का एक-एक शब्द हमारे कानों में आध्यात्मिकता की भावना उत्पन्न करता है। संसार के भोगोपभोगों को वहाँ कोई स्थान प्राप्त नहीं है। आत्मा एक स्वतंत्र ही वस्तु है और इसीलिए उसके वास्तविक सुख और संवेदन आदि धर्म भी स्वतंत्र हैं-परानपेक्ष हैं। अतएव जो सुख किसी बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नहीं है, जिस ज्ञान के लिए पौद्गलिक इन्द्रिय आदि साधनों की आवश्यकता नहीं है, वही आत्मा का सच्चा सुख है, वही सच्चा-स्वाभाविकज्ञान है। वह सुख-संवेदन, किस प्रकार, किन-किन उपायों से, किसे और कब प्राप्त हो सकता है? यही भगवान् महावीर के वाङ्मय का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतएव इनकी व्याख्या करने में हमारे जीवन के सभी-क्षेत्रों की व्याख्या हो जाती है और उनके आधार पर नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, आदि समस्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इसे स्पष्ट करके उदाहरण पूर्वक समझाने के लिए विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है, और हमें यहाँ प्रस्तावना की सीमा से आगे नहीं बढ़ना है। पाठक 'निर्ग्रंथ प्रवचन' में यत्र-तत्र इन विषयों की साधारण झलक भी देख सकेंगे।

निर्ग्रंथ-प्रवचन और विषय-दिग्दर्शन 'निर्ग्रंथ-प्रवचन' अठारह अध्यायों में समाप्त हुआ है। इन अध्यायोंमें विभिन्न विषयों पर मनोहर, आन्तराह्लादजनक और शान्ति-प्रदायिनी सूक्तियाँ संगृहीत हैं। सुगमता से समझने के लिए यहाँ इन

अध्यायों में वर्णित वस्तु का सामान्य परिचय करा देना आवश्यक है, और वह इस प्रकार है:—

(१) समस्त आस्तिक दर्शनों की नींव आत्मा पर अवलम्बित है। संसार रूपी इस अद्भुत नाटक का प्रधान अभिनेता आत्मा ही है, जिसकी बदौलत भाँति-भाँति के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव प्रथम अध्याय में प्रारंभ में आत्मा संबंधी सूक्तियाँ हैं। आत्मा अजर-अमर है, रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित होने के कारण वह अमूर्त्त है, इन्द्रियों द्वारा उसका बोध नहीं हो सकता। मगर वह मूर्त कर्मों से बद्ध होने के कारण मूर्त्त सा हो रहा है। आत्मा के सुख दुख आत्मा पर ही आश्रित हैं। आत्मा स्वयं ही अपने दुख-सुखों की सृष्टि करता है। वही स्वयं अपना मित्र है और स्वयं शत्रु है। आत्मा जब दुरात्मा बन जाता है तो वह प्राणहारी शत्रु से भी भयंकर होता है। अतएव संसार में यदि कोई सर्वोत्कृष्ट विजय है तो वह है—अपने आप पर विजय प्राप्त करना। जो अपने आप पर विजय नहीं पाता किन्तु संग्राम में लाखों मनुष्यों को जीत लेता है उसकी विजय का कोई मूल्य नहीं। आत्मा का स्वरूप ज्ञान-दर्शनमय है। ज्ञान से जगत् के द्रव्यों को उनके वास्तविक रूप में देखना-जानना चाहिए। अतएव आत्मा के विवेचन के बाद नव तत्त्वों और द्रव्यों का परिचय कराया गया है।

(२) जगत् के इस अभिनय में दूसरा भाग कर्मों का है। कर्मों के चक्कर में पड़कर ही आत्मा संसार-परिभ्रमण करता है। कर्म आठ हैं—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय। कर्मों के कितने भेद हैं, कितने समय तक

एक बार बँधे हुए कर्म का आत्मा के साथ सम्पर्क रहता है, यह इस अध्ययन में स्पष्ट किया गया है। कर्मों का करना हमारे अधीन है पर भोगना हमारे हाथ की बात नहीं। जो कर्म किए हैं उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। बन्धु-बान्धव, मित्र, पुत्र, कलत्र आदि कोई इसमें हाथ नहीं बँटा सकता। मोहनीय कर्म इन सब का सरदार है। यह कर्म-सैन्य का सेनापति है। जिसने इसे परास्त किया उसे अनन्त आत्मिक-साम्राज्य प्राप्त हो गया। राग और द्वेष ही दुःख के मूल हैं। अतएव मुमुक्षु जीवों को सर्वप्रथम मोहनीय कर्म से ही मोर्चा लेना चाहिए।

(३) मनुष्यभव बड़ी कठिनाई से मिलता है। यदि वह मिल भी जाय तो फिर सद्धर्म की प्राप्ति आदि अनुकूल निमित्तों का पा सकना मुश्किल है। जिसे यह दुर्लभ निमित्त मिले हैं उन्हें प्रमाद न कर धर्माराधन करना चाहिए। कौन जाने कब क्या हो जायगा, अतः वृद्धावस्था आने से पूर्व, व्याधि होने से पहले और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने से प्रथम, ही धर्म का आचरण कर लेना उचित है। जो समय गया सो गया, वह वापस लौटकर आने वाला नहीं। धर्मा-त्मा का समय ही सफल होता है। धर्म वही सत्य समझना चाहिए जिसका वीतराग मुनियों ने प्रतिपादन किया है। धर्म ध्रुव है, नित्य है।

(४) आत्मा विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता है। नरक गति में उसे महान् क्लेश भोगने पड़ते हैं। तिर्यंच गति के दुःख प्रत्यक्ष ही हैं। मनुष्य गति में भी विश्रान्ति नहीं-इस में व्याधि, जरा, मरण आदि की प्रचुर वेदनाएँ विद्य-

मान हैं। देव गति भी अल्पकालीन है। इन समस्त दुःखों का अन्त वही पुण्य पुरुष कर सकते हैं जो धर्माराधना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं। सिद्धि प्राप्त करने के लिए कृत पापों का प्रायश्चित करना चाहिए। तपस्या, निर्लोभता, परिषह-सहिष्णुता, ऋजुता, धैर्य, संवेग, निष्कामता, आदि सात्विक गुणों की वृद्धि करनी चाहिए। प्राणातिपात, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, मूर्च्छा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, परपरिवाद, आदि आदि पापों का परित्याग करना चाहिए। असदाचरण से मुक्त और सदाचरण में प्रवृत होने से मनुष्य का कर्म-लेप हट जाता है और वह ऊर्ध्व गति करके लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाता है। उठना, बैठना, सोना, आदि प्रत्येक क्रिया विवेक के साथ करनी चाहिए। इसी प्रकरण में लोक-प्रचलित बाह्य क्रिया काण्ड के विषय में भगवान् कहते हैं—

तपस्या को अग्नि बनाओ, आत्मा को अग्नि स्थान बनाओ, योग को कुड़छी करो, शरीर को ईंधन बनाओ, संयम-व्यापार रूप शान्ति-पाठ करो, तब प्रशस्त होम होता है।

हम सदा स्नान करते हैं, परन्तु वह हमारे अन्तःकरण को निर्मल नहीं बनाता। बाह्य-शुद्धि से आन्तर शुद्धि नहीं हो सकती। भगवान् कहते हैं—

आत्मा में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, शान्ति-तीर्थ धर्म रूपी सरोवर में जो स्नान करता है वही निर्मल, विशुद्ध और ताप-हीन होता है।

(५) ज्ञान पांच प्रकार का है—(१) मति ज्ञान (२) श्रुत ज्ञान (३) अवधि ज्ञान (४) मनःपर्याय ज्ञान और

(५) केवल ज्ञान । अनुष्ठान करने से पहले सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है—जिसे तत्त्व-ज्ञान नहीं वह श्रेय-अश्रेय को क्या समझेगा ? श्रुत से ही पाप-पुण्य का भले-बुरे का बोध होता है। जैसे ससूत्र (डोरा सहित) सुई गिर जाने के बाद फिर मिल जाती है उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत ज्ञान युक्त) जीव संसार में भी कष्ट नहीं पाता। अज्ञानी जीव दुःखों के पात्र होते हैं। वे मूढ़ पुरुष अनन्त संसार में भटकते फिरते हैं। मगर बिना चारित्र के भी निस्तार नहीं। अनुष्ठान को जानने मात्र से दुःख का अन्त संभव नहीं है। जो कर्त्तव्य परायण नहीं वे वाचनिक शक्ति से अपनी आत्मा को आश्वासन मात्र दे सकते हैं। पण्डितम्मन्य बाल जीव विविध विद्याओं का स्वामी बन जाय, विद्यानुशासन सीख ले, पर इससे उसका त्राण नहीं हो सकता। ज्ञान प्राप्त कर लिया किन्तु शरीर या इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति दूर न हुई तो दुःख ही होता है। अतएव सिद्धि सम्पादन करने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र-दोनों ही अनिवार्य हैं। मनुष्य को निर्मम, निरहंकार, अपरिग्रही, ठसक का त्यागी, समस्त प्राणियों पर समभावी, बनना चाहिए। लाभालाभ में, सुख-दुख में, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, मानापमान में, जो समान रहता है, वही सिद्धि प्राप्त करता है।

(६) वीतराग देव हैं, सर्वथा निष्परिग्रही गुरु हैं, वीतराग द्वारा प्रतिपादित धर्म ही सच्चा है, इस प्रकार की श्रद्धा (व्यवहार) सम्यक्त्व है। परमार्थ का चिन्तन करना, परमार्थ दर्शियों की शुश्रूषा करना, मिथ्यादृष्टियों की संगति त्यागना, यह सम्यक्त्वी के लिए अनिवार्य है। मिथ्यावादी-पाखण्डी, उन्मार्गगामी होते हैं। रागादि दोषों को नष्ट करने

वाले वीतराग का मार्ग ही उत्तम मार्ग है। ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टि में होनी चाहिए। सम्यक्त्व अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व के बिना सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। सम्यक्त्व होते ही ज्ञान-चारित्र सम्यक् हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि को शंका, आकांक्षा आदि दोषों से रहित होना चाहिए। मिथ्यादृष्टियों को आगामी भव में भी बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होती है-सम्यक्दृष्टियों को सुलभ होती है। सम्यग् बोधि का लाभ करने के लिए जिन-वचनों में अनुराग करना चाहिए, ऊपर बताए हुए दोषों से दूर रहना चाहिए।

(७) पांच महाव्रत, कर्म का नाश करने वाले हैं। पन्द्रह कर्मादानों * का परित्याग करना चाहिए। दर्शन, व्रत, आदि पडिमाएँ पालनीय हैं। प्राणी मात्र पर क्षमा-भाव रखना और अपने अपराधों की उनसे क्षमा-प्रार्थना करना आवश्यक है। इस प्रकार का आचार-परायण गृहस्थ भी देवगति प्राप्त करता है। छाल और चर्म के वस्त्र धारण करने वाला, नग्न रहने वाला, मूँड मुँडाने वाला, अर्थात् किसी भी वेष को धारण करने से ही कोई गुरु नहीं बन सकता और न उससे त्राण हो सकता है। सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय के पहले, भोजन आदि की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। असली ब्राह्मण कौन है? इसका उत्तर इस अध्याय में (देखो गाथा १५ से) बड़ी सुन्दरता से दिया है। यह प्रकरण अन्धश्रद्धालुओं की आँखें खोलने के लिए बहुत उपयोगी है

* कर्मादानों का विवरण सामाजिक साम्यवाद की दृष्टि से भी पढ़िए। समाज की सुलगती हुई समस्याओं का यह पुराना समाधान है।

(८) इस अध्याय में विषयों की विषमता का विवेचन है। ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रियों एवं नपुंसकों के समीप नहीं रहना चाहिए। स्त्रियों संबंधी बातचीत, स्त्रियों की चेष्टाओं को देखना, परिमाण से अधिक भोजन करना, शरीर को सिंगारना, आदि बातें विष के समान हैं। बिल्लियों के बीच जैसे चूहा कुशल नहीं रह सकता उसी प्रकार स्त्रियों के बीच ब्रह्मचारी नहीं रह सकता। और की तो बात ही क्या, जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, नाक कान बेडौल हों, ऐसी सौ वर्ष की बुढ़िया का सम्पर्क भी नहीं रखना चाहिए। जैसे मक्खी कफ़ में फँस जाती है उसी प्रकार विषयी जीव भोगों में फँसता है। परन्तु यह विषय शल्य के समान हैं, दृष्टिविष साँप के समान हैं। ये अल्पकाल सुख देकर अत्यन्त दुःखदाई हैं, अनर्थों की खान हैं। बड़ी कठिनाई से धीर-वीर पुरुष इनसे अपना पिण्ड छुड़ा पाते हैं। इस प्रकार इस अध्याय में ब्रह्मचर्य संबंधी और भी अनेक मार्मिक और प्रभावशाली वर्णन. ब्रह्मचारी के पढ़ने योग्य हैं।

(९) इस अध्याय में भी विशिष्ट चारित्र का वर्णन है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, अतः किसी की हिंसा करना घोर पाप है। असत्य भाषण से विश्वास-पात्रता नष्ट हो जाती है। बिना आज्ञा लिए छोटी वस्तु भी नहीं लेनी चाहिए। मैथुन अधर्म का मूल है, अनेक दोषों का जनक है, अतः निर्ग्रंथों को इससे सर्वथा बचना चाहिए। लोभ-मूर्छा का त्याग करना चाहिए। यदि साधु खाद्य सामग्री को रात्रि में रख लेता है तो वह साधुत्व से पतित होकर गृहस्थ की कोटि में आ जाता है। साधु यद्यपि निर्ममभाव से वस्त्र-पात्र आदि रखते हैं फिर भी वह परिग्रह नहीं है, क्योंकि उसमें मूर्छा नहीं है। ज्ञातपुत्र ने मूर्छा को ही परिग्रह कहा है। पृथ्वीकाय आदि का आरंभ साधु को सर्वथा ही

न करना चाहिए। सच्चा साधु, आदर-सत्कार से अपना गौरव नहीं समझता और अनादर से क्रुद्ध नहीं होता। वह समभावी होता है। जाति कुल, ज्ञान या चारित्र का उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। उच्च जाति या उच्च कुल से ही त्राण नहीं होता, यह बात साधु सदा ध्यान में रखते हैं। वह अपनी प्रशंसा की अभिलाषा नहीं करता। किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं करता. निर्भय और निष्कषाय होकर विचरता है।

(१०) जल्दी क्या है? आज नहीं कल कर डालेंगे, ऐसा विचार करने वाले, प्रमादी जीवों की आँखें खोलने के लिए यह अध्याय बड़े काम की चीज़ है। भगवान्, गौतम स्वामी को संबोधन करके, बड़े ही मार्मिक शब्दों में क्षण मात्र का प्रमाद न करने के लिए उपदेश करते हैं:—गौतम! पेड़ पर लगा हुआ, पका पत्ता अचानक गिर जाता है, ऐसे ही यह मानव जीवन अचानक समाप्त हो जाता है, इसलिए पल भर भी प्रमाद न कर। कुश की नोंक पर लटकता हुआ ओस का बूंद ज्यादा नहीं ठहरता, इसी प्रकार यह मानव जीवन चिरस्थायी नहीं है। अतः पल भर प्रमाद न कर। गौतम! जीवन अल्पकालीन है और वह भी नाना विघ्नों से परिपूर्ण है। इसलिए पूर्वकृत रज-कर्मों को धो डालने में पल भर भी विलम्ब न कर। मानव-जीवन, बहुत लम्बे समय में, बड़ी ही कठिनाई से प्राप्त होता है। अतः एक भी पल प्रमाद न कर। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय में गया हुआ जीव असंख्यात काल तक और वनस्पति काय गत जीव अनन्त काल तक वहाँ रह सकता है, इसलिए तू प्रमाद न कर। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव इस अवस्था में उत्कृष्ट असंख्य काल रह जाता है इसलिए प्रमाद न कर। पंचेन्द्रिय अवस्था में लगातार

सात-आठ भव रह सकता है अतः प्रमाद न कर । इसी प्रकार देव और नरक गति में भी पर्याप्त समय रह जाता है । जब इन समस्त पर्यायों से बचकर किसी प्रकार असीम पुण्योदय से मनुष्य भव मिल जाय तो आर्यत्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है, क्योंकि बहुत से मनुष्य, अनार्य भी होते हैं । फिर पूर्ण पंचेन्द्रियाँ, उत्तम धर्म की श्रुति, श्रद्धा धर्म की स्पर्शना, आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं । शरीर जीर्ण होता जा रहा है. बाल सफेद हो रहे हैं. इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती जाती है, अतः पल भर भी प्रमाद न कर । चित्त का उद्वेग, विशूचिका, विविध प्रकार के आकस्मिक उत्पात आदि जीवन को घेरे हुए हैं, शरीर समय समय नष्ट हो रहा है, अतः गौतम ! प्रमाद न कर । गौतम ! जल में कमल की नाईं निर्लेप बन जा, स्नेह-वृत्ति को छोड़ । धन धान्य, स्त्री-पुत्र, आदि का परित्याग करके तू ने अनगारिता धारण की है, उनकी पुनः कामना न करना । इस प्रकार का प्रभावशाली वर्णन पढ़कर कौन क्षण भर के लिए भी विरक्त न हो जायगा । यह सम्पूर्ण अध्याय नित्य प्रातः काल पठन करने की चीज़ है ।

(११) इस अध्याय में भाषण के नियम प्रतिपादन किये गए हैं । (१) सत्य होने पर भी जो बोलने के अयोग्य हो (२) जिसमें कुछ भाग सत्य और कुछ असत्य हो, ऐसी मिश्र भाषा (३) जो सर्वथा असत्य हो, ऐसी तीन प्रकार की भाषा बुद्धिमानों को नहीं बोलनी चाहिए । व्यवहार भाषा, अनवद्यभाषा, कर्कशता तथा संदेह रहित भाषा बोलनी चाहिए । काने को काना कहना, आदि दिल दुखाने वाली भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए । क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि से भी नहीं बोलना चाहिए । विना पूछे, दूसरे बोलने वाले के बीच में न बोले, चुगली न करे ।

मनुष्य काँटों को सह सकता है पर वाक्-कण्टकों का सहन करना कठिन है, पर उत्तम मनुष्य वही है जो इन्हें सहले। काँटे थोड़ी देर तक दुःख देते हैं, पर वाक्कण्टक वैर को बढ़ाने वाले, महान् भय-जनक होते हैं। इनका निकलना कठिन होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष परोक्ष में अवर्णवाद करने वाली, भविष्य की निश्चयात्मक, अप्रियकारिणी भाषा भी न बोलनी चाहिए। बुरी प्रवृत्ति का त्याग कर अच्छी प्रवृत्ति में लीन रहना चाहिए। जनपद आदि सम्बन्धिनी भाषा सत्य है। क्रोधादि पूर्वक बोली हुई भाषा असत्य है। यह लोक देव निर्मित है, ब्रह्म-प्रयुक्त है, ईश्वरकृत है, प्रकृति द्वारा बनाया गया है, स्वयंभू ने रचा है, अतः अशाश्वत है, ऐसा कहना असत्य है—अर्थात् लोक अनादिनिधन है, किसी का बनाया हुआ नहीं है।

(१२) इस अध्याय में लेश्या-सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। कषाय से अनुरंजित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। कर्म बंध में यह कारण है। इस के छः भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। कैसे कैसे परिणाम वाले को कौनसी लेश्या समझनी चाहिए, इसका अच्छा निरूपण इस अध्याय में है। मुमुक्षु जीवों को इस वर्णन के आधार पर सदा अपने व्यापारों की जांच करते रहना चाहिए और अप्रशस्त लेश्याओं से बचना चाहिए।

(१३) इस अध्याय में कषाय का वर्णन है। क्रोध आदि चार कषाय पुनर्जन्म की जड़ को हरा-भरा करते हैं। क्रोधी, मानी और मायावी जीव को कहीं शान्ति नहीं मिलती। लोभ पाप का बाप है। कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत सोने-चांदी के खड़े कर दिये जावें तो भी लोभी को संतोष न

होगा। क्योंकि तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है। तीन लोक की सारी पृथ्वी, धनधान्य, आदि तमाम विभूति यदि एक ही आदमी को प्रदान कर दी जाय तो भी लोभी को वह पर्याप्त न होगी। अतएव कामनाओं का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। क्रोध, मान, माया और लोभ, से संसार में भ्रमण करना पड़ता है। क्रोध, प्रीति को, मान विनय को, माया मित्रता को और लोभ सब सद्गुणों को नाश करता है। अतएव क्षमा आदि सद्गुणों से इन्हें दूर करना चाहिए। कौन जाने परलोक है भी या नहीं ? परलोक किसने देखा है ? विषय-सुख प्राप्त हो गया है तो अप्राप्त के लिए प्राप्त को क्यों त्यागा जाय ? ऐसा विचार करने वाले बाल जीव अन्त में दुःखों के गड्ढे में गिरते हैं। जैसे सिंह, मृग को पकड़ लेता है वैसे ही मृत्यु मनुष्य को धर दबाती है। यह मेरा है, यह तेरा है, यह करना है, यह नहीं करना है, ऐसा विचारते-विचारते ही मौत अचानक आ जाती है और यह जीवन समाप्त हो जाता है।

(१४) जागो, जागो, जागते क्यों नहीं हो ? परलोक में धर्म-प्राप्ति होना कठिन है। क्या बूढ़े, क्या बालक, सभी को काल हर ले जाता है। कुटुम्बी-जनों की ममता में फँसे हुए लोगों को संसार में भ्रमण करना पड़ता है। कृत कर्मों से भोगे बिना पिंड नहीं छूटता। जो क्रोधादि पर विजय प्राप्त करते हैं, किसी प्राणी का हनन नहीं करते वही वीर हैं। गृहस्थी में रहकर भी यदि मनुष्य संयम में प्रवृत्त होता है तो उसे देवगति मिलती है। अतएव बोध को प्राप्त करो। कछुए की भाँति संहृतेन्द्रिय बनो। मन को अपने अधीन करो। भाषा संबंधी दोषों का परित्याग करो। समस्त ज्ञान का सार और सारा विज्ञान अहिंसा में ही समाप्त हो जाता है। अतः

ज्ञानी जन हिंसा से सदा बचते रहते हैं। कर्म से कर्म का नाश नहीं होता, किन्तु अकर्म-अहिंसा आदि-से ही कर्मों का क्षय होता है। मेधावी निष्कषाय पुरुष पापों से दूर ही रहते हैं। इन्द्रभूति! तत्वज्ञानी वह है जो क्या बालक और क्या वृद्ध—सभी को आत्मवत् दृष्टि से देखता है और प्रमाद-रहित हो संयम को स्वीकार करता है।

(१५) मन अत्यन्त दुर्जय है। मन ही बंध और मोक्ष का प्रधान कारण है। जिस महात्मा ने मन को जीत लिया, समझ लीजिए उसने इन्द्रियों और कषायों को भी जीत लिया। मन, साहसी, भयंकर दुष्ट अश्व की भाँति चारों तरफ़ दौड़ता रहता है। इसे धर्म-शिक्षा से अधीन करना चाहिए। संयमी का कर्त्तव्य है कि वह मन को असत्य विषयों से दूर रखे, संरंभ समारंभ में इसकी प्रवृत्ति न होने दे।

पराधीनता के कारण जो लोग वस्त्र गंध या अलंकार आदि को नहीं भोगते वे त्यागी की परमोच्च पदवी पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकते। बल्कि स्वाधीनता से प्राप्त कान्त और प्रिय भोगों को जो लात मार देता है, वही त्यागी कहलाता है। समभाव से विचरने पर भी यदि चपल मन कदाचित् संयम-मार्ग से बाहर निकल जाय तो धार्मिक भावनाओं से उसे पुनः यथास्थान लाना चाहिए।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रिभोजन से विरत जीव ही आस्रव से बच सकता है। किसी तालाब में नया पानी प्रवेश न करे और पुराना पानी उलीच कर या सूर्य की धूप से सुखा डाला जाय तो तालाब निर्जल हो जाता है, इसी भाँति नवीन कर्मों के आस्रव को रोक देने से तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने से जीव निष्कर्म हो

जाता है। निर्जरा प्रधानता तपस्या से होती है। तपस्या दो प्रकार की है:—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। इनका विवेचन प्रसिद्ध है। रूप-गृद्ध जीव पतंग की भाँति, शब्द-गृद्ध जीव हिरन की तरह, गंधगृद्ध जीव सर्प की भाँति, रस-लोलुप मत्स्य की नाईं, और स्पर्श-सुखाभिलाषी ग्राह-ग्रस्त भैंसे की तरह अकाल-मरण दुःख-को प्राप्त होता है।

(१६) एकान्त में स्त्री के पास नहीं खड़ा होना चाहिए और न उससे बातचीत करनी चाहिए। कभी वस्त्र मिले या न मिले, पर दुःखी नहीं होना चाहिए। यदि कोई निन्दा करे तो मुनि कोप न करे, कोप करने से वह उन्हीं बाल जीवों जैसा हो जायगा। श्रमण को कोई ताड़ना करे तो विचारना चाहिए कि आत्मा का नाश कदापि नहीं हो सकता। अपने जीवन को समाप्त करने के लिए शस्त्र का उपयोग करना, विष भक्षण करना, जल या अग्नि में प्रवेश करना, जन्म मरण की-संसार की-वृद्धि करता है।

पाँच कारणों से जीव को शिक्षा नहीं मिलती-क्रोध, मान, आलस्य, रोग और प्रमाद से। आठ गुणों से शिक्षा की प्राप्ति होती है:—हँसोड़ न होना, संयमी होना, मर्मभेदी वचन न कहना, निश्शील न होना निर्दोष-शील युक्त होना, अलोलुपता, क्रोध हीनता, सत्यरति।

मुनि को तंत्र-मंत्र करना, स्वप्न के फल बताना, हाथ की रेखाएँ देखकर शुभ-अशुभ कहना, इत्यादि पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। पापी घोर नरक में पड़ते हैं और आर्य-श्रेष्ठ-धर्मी दिव्य गति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार अध्याय में मुनि-जीवन के योग्य विविध शिक्षाएँ संगृहीत की गई हैं, जिनका उल्लेख विस्तार भय से

नहीं किया जा सकता।

(१७) ऊपर अनेक स्थलों पर सदाचार का फल देव-गति और असदाचार का फल नरकगति कहा गया है। इस अध्याय में इन दोनों गतियों का स्वरूप बताया गया है। नरक गति कहाँ है, उसका स्वरूप क्या है, कौन जीव वहाँ जाते हैं, कैसी-कैसी भीषण वेदनाएँ नारकी जीवों को सहनी पड़ती हैं, आदि-आदि बातें जानने के लिए इस अध्याय को अवश्य पढ़ना चाहिए इसी प्रकार देवगति का भी इसमें सुन्दर वर्णन है और अन्त में कहा गया है कि समुद्र और पानी की एक बूंद में जितना अन्तर है उतना ही अंतर देवगति और मनुष्य गति के सुखों में है।

(१८) शिष्य को गुरु के प्रति पुत्र को पिता के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, तथा मुक्ति क्या है, यही विषय मुख्य रूप से इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

विनीत शिष्य वह है जो अपने गुरु की आज्ञा पाले, उनके समीप रहे, उनके इशारों से मनोभावों को ताड़कर वर्ते। गुरुजी कभी शिक्षा दें तो कुपित न हो, शान्ति से स्वीकार करे। अज्ञानियों से संसर्ग न रखे। अपने आसन पर बैठे २ गुरुजी से कोई प्रश्न न पूछे बल्कि सामने आकर हाथ जोड़कर-विनय के साथ पूछे। गुरुजी कदाचित् नर्म गर्म बात कहें तो अपना लाभ समझकर उसे स्वीकार करे। इसके विपरीत जो क्रोधी होता है, कलहोत्पादक बातें करता है, शास्त्र पढ़कर अभिमान करता है, मित्रों पर भी कुपित होता है असंबद्ध भाषी एवं घमण्डी होता है, तथा अन्यान्य ऐसे ही दोषों से दूषित होता है वह अविनीत शिष्य कह-लाता है। विनीत शिष्य में पन्द्रह गुणों का होना आव-

श्यक है । (गाथा ६—१२) अनन्त ज्ञान प्राप्त करके भी अपने गुरु की सेवा अवश्य करनी चाहिए। कदाचित् आचार्य कुपित हो जाएँ तो उन्हें मना लेना चाहिए ।

समस्त दुःखों का अन्त मुक्ति में होता है । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप, मोक्ष का मार्ग है । इन चारों में से किसी एक की कमी होने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता । मुक्तात्मा जीव समस्त लोकालोक को जानते-देखते हैं । वे पुनः संसार में नहीं आते क्योंकि कर्म सर्वथा नष्ट होने पर पुनः उत्पन्न नहीं होते, जैसे सूखा हुआ पेड़ । दग्ध बीज से जैसे अंकुर नहीं होते उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने से भव-अंकुर नहीं उत्पन्न होता । मुक्त जीव लोकाकाश के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हो जाते हैं । मुक्त जीव अमूर्त्तिक हैं, अनन्तज्ञान-दर्शनधारी हैं, अनुपम सुखसम्पन्न होते हैं ।

द्वितीय संस्करण की विशेषताएँ निर्ग्रंथ-प्रवचन का मूलभाग अर्द्ध-मागधी भाषा में है । भगवान महावीर ने तत्कालीन सर्वसाधारण जनता को धर्मतत्त्व समझाने के लिए उसमें प्रचलित भाषा को ही अपने उपदेश के लिए चुना था । वे सर्वज्ञ थे और उन्हें अपने पाण्डित्य के प्रदर्शित करने की कुछ अपेक्षा नहीं थी, इसीलिए लोकभाषा को उन्होंने अपनाया । संभवतः यही पहला समय था जब किसी महापुरुष ने भाषा संबंधी ऐसी उदारता दिखलाई । अस्तु । भगवान् के अपनाने से अर्द्धमागधी भाषा सनाथ हो गई । उसमें जो बहु मूल्य रत्न भरे हुए हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु लोग आज तक उसका अभ्यास करते चले आते हैं । ऐसे अभ्यासियों की सुविधा का लक्ष्य रखकर, संस्कृत-भाषा के साथ तुलनात्मक

पद्धति से अर्द्धमागधी का अभ्यास सुगम बनाने के अभि-प्राय से, अब की बार गाथाओं के नीचे संस्कृत-छाया भी दे दी गई है। आशा है पाठकों को यह वृद्धि अधिक लाभ-प्रद सिद्ध होगी।

प्रथमावृत्ति में, हिन्दी अर्थ के साथ-साथ कहीं-कहीं ब्रैकेट में अंग्रेजी भाषा के शब्द रख दिये गए थे, इसलिए कि अंग्रेजीदाँ पाठक जैनों के पारिभाषिक शब्दों को ठीक-ठीक हृदयंगम कर सकें। पर अब की बार उन्हें फुट नोट में रख दिए गये हैं।

शास्त्र अगाध समुद्र है। इसमें अधिक से अधिक साव-धानी रखने पर भी कहीं कुछ भ्रम रह ही सकता है इस संग्रह में भी अनेक त्रुटियाँ रह गई होंगी। उनके लिए हम पाठकों से यही निवेदन करना चाहते हैं कि हमें इन त्रुटियों से सूचित करें और स्वयं संशोधन करके पढ़ें।

अक्षर मात्र पदस्वर हीनं, व्यञ्जनसन्धि विवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षन्तव्यम्, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।



निवेदन



पाठको ! निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर के प्रवचनों से, आज सभी कौमों तथा सभी अवस्थाओं के जैन-अजैन नर नारी, सर्वत्र एकसा और सुगमता पूर्वक लाभ उठा सकें, एक मात्र इसी परम पवित्र उद्देश्य को लेकर, बम्बई, पूना, अहमदनगर आदि आदि कई प्रसिद्ध शहरों के तथा गांवों के बहु संख्यक सद्गृहस्थों ने प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्रीहुक्मीचंदजी महाराज के पाटानुपाट शास्त्र विशारद बाल ब्रह्मचारी पूज्यवर श्री मन्नालालजी महाराज के पट्टाधिकारी धैर्यवान् शास्त्रज्ञ पूज्य श्री खूबचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के कविवर सरल स्वभावी मुनिश्री हीरालालजी महाराज के सुशिष्य जगद्वल्लभ जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनिश्री चौथमलजी महाराज से कई बार प्रार्थना की कि यदि आप जैनागमों में से चुन कर कुछ गाथाओं को एक स्थल पर संग्रह करके, उनका सुबोध तथा सरलातिसरल भाषा में एक हिन्दी अनुवाद भी कर दें, तो जैन जगत् ही पर नहीं, वरन् जैनेतर-जनता के साथ भी आप का बड़ा भारी उपकार होगा। यदि इस प्रकार का रहस्यपूर्ण सुबोध युक्त एक ग्रन्थ प्रकाशित होकर जगत् को मिल जाय, तो जैन-जनता उससे यथोचित लाभ उठावेगी ही, परन्तु साथ ही इसके, वह जैनेतर-जनता भी जो जैन साहित्य की बानगी कुछ चख कर, जैनागमों के महा-सागर में गोता

लगाना चाहती है, या गोता लगाने के लिए दीर्घ-काल से बड़ी ही लालायित है, उससे किसी कदर कम लाभ नहीं उठावेगी। इस प्रकार से, उन सद्गृहस्थों के द्वारा समय-समय के अत्याग्रह तथा निवेदन के किए जाने पर, उन्हीं जगद्वल्लभ जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता परिडत मुनिश्री चौथमलजी महाराज ने, जैनागमों का मन्थन कर कुछ ऐसी गाथाओं का संग्रह यहां किया, जो जगत् के दैनिक जीवन में प्रतिपल हितकारी सिद्ध हैं। तदनन्तर उन्हीं संग्रहीत गाथाओं का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी उनने किया। और मुनिश्री के उन्हीं अनुवादित खरों पर से जिसे उनके शिष्य मनोहर व्याख्यानी युवाचार्य्य परिडत मुनिश्री छगनलालजी महाराज और साहित्य प्रेमी गणिवर्य परिडत मुनिश्री प्यारचन्दजी महाराज ने इस ढाल में ढाला। उन खरों पर से लिखने में, या किसी प्रकार के दृष्टि-दोष से, अथवा अन्य किसी भी प्रकार की कोई भी भूल इस अनुवाद में पाठकों को कभी जान पड़े, तो कृपया प्रकाशक को उसकी सूचना वे अवश्य दे दें। इस प्रकार की सुसूचना का प्रकाशक के हृदय में सचमुच में बड़ा ही ऊँचा स्थान होगा। और, यदि बहु संख्यक विद्वानों की राय में वह सूचना आवश्यक और उपादेय जान पड़ी, तो तृतीयावृत्ति में उसके या उनके अनुसार, उचित संशोधन भी करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जायगा।

प्रस्तुत अनुवाद की भाषा को सरल से भी सरल बनाने

का भरसक प्रयत्न किया गया है। हमें पूरी पूरी आशा और विश्वास है कि पाठकगण इस से यथोचित लाभ उठा कर हमारे उत्साह को बढ़ाने वा सत्प्रयत्न करने की कृपा दिखावेंगे। फक्त ता० ६-३-३५ ई०।

भवदीय

कालूराम कोठारी — प्रेसिडेन्ड

मास्टर मिश्रीमल — मंत्री

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम



विषय सूची

निर्ग्रन्थ-प्रवचन



उज्जैन निवासी श्रीमान् धर्म प्रेमी सेठ छोटमलजी सा० सूथा
संरक्षक श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम

श्री जैनोदय प्रेस, रतलाम

॥ णमो सिद्धाणं ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(प्रथम अध्याय)

षट् द्रव्य निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा ।
अमुत्तभावा वि अ होइ निच्चो ॥
अज्झत्थहेउं नियस्स बंधो ।
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १ ॥

छायाः-नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्,
अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः ।
अध्यात्महेतुर्नियतस्य बन्धः,
संसारहेतुं च वदन्ति बन्धम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! यह आत्मा (अमुत्तभावा) अमूर्त होने से (इंदियग्गेज्झ) इंद्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य (नो) नहीं है । (अ) और (वि) निश्चय ही (अमुत्तभावा) अमूर्त होने से आत्मा (निच्चो) हमेशा

(होइ) रहती है (अस्स) इसका (बंधो) बंध जो है, वह (अज्झत्थहेउं) आत्मा के आश्रित रहे हुए मिथ्यात्व कषायादि हेतु (च) और (बंधं) बंधन को (नियच्छ) निश्चय ही (संसारहेउं) संसार का हेतु (वयंति) कहा है ।

भावार्थः-हे गौतम ! यह आत्मा अमूर्त्ति अर्थात् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रहित होने से इंद्रियों-द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है । और अरूपी होने से न कोई इसे पकड़ ही सकता है । जो अमूर्त अर्थात् अरूपी है, वह हमेशा अविनाशी है, सदा के लिये कायम रहने वाला है । जो शरीरादि से इसका बंधन होता है, वह प्रवाह से आत्मा में हमेशा से रहे हुए मिथ्यात्व अव्रत आदि कषायों का ही कारण है । जैसे आकाश अमूर्त है, पर घटादि के कारण से आकाश घटाकाश के रूप में दिख पड़ता है । ऐसे ही आत्मा को भी अनादि काल के प्रवाह से मिथ्यात्वादि के कारण शरीर के बंधन-रूप में समझना चाहिए । यही बंधन संसार में परिभ्रमण करने का साधन है ।

मूलः-अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥२॥

छायाः-आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली ।
आत्मा कामदुघा धेनुः, आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अप्पा) यह आत्मा ही (वेयरणी) वैतरणी (नई) नदी के समान है । (मे) मेरी (अप्पा) आत्मा (कूडसामली) कूटशाल्मली के वृक्षरूप

है । और यही (अप्पा) आत्मा (कामदुहा) काम दुघा रूप (धेणु) गाय है । और यही मेरी (अप्पा) आत्मा (नंदणं) नंदन (वणं) वन के समान है ।

भावार्थः-हे गौतम ! यही आत्मा वैतरणी नदी के समान है । अर्थात् इसी आत्मा को अपने कृत्य कार्यों से वैतरणी नदी में गोता खाने का मौका मिलता है । वैतरणी नदी का कारण-भूत यह आत्मा ही है । इसी तरह यह आत्मा नरक में रहे हुए कूटशाल्मली वृक्ष के द्वारा होने वाले दुखों का कारण भूत है और यही आत्मा अपने शुभ कृत्यों के द्वारा कामदुग्धा गाय के समान है, अर्थात् इच्छित सुखों की प्राप्ति कराने में यही आत्मा कारण-भूत है । और यही आत्मा नंदनवन के समान है अर्थात् स्वर्ग और मुक्ति के सुख-सम्पन्न कराने में अपने आप ही स्वाधीन है ।

मूलः-अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३ ॥

छायाः-आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च, दुःखानां च सुखानां च ।
आत्मा मित्रमामित्रं च, दुःप्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति, (अप्पा) यह आत्मा ही (दुहाण) दुःखों का (य) और (सुहाण) सुखों का (कत्ता) उत्पन्न करने वाला (य) और (विकत्ता) नाश करने वाला है । (अप्पा) यह आत्मा ही (मित्तं) मित्र है (च) और (अमित्तं) शत्रु है । और यही आत्मा (दुप्पट्ठिय) दुराचारी और (सपट्ठिओ) सदाचारी है ।

भावार्थः-हे गौतम ! यही आत्मा दुःखों एवं सुखों के साधनों का कर्त्ता-रूप है और उन्हें नाश करने वाला भी यही आत्मा है । यही शुभ कार्य करने से मित्र के समान है और अशुभ कार्य करने से शत्रु के सदृश हो जाता है सदाचार का सेवन करने वाला और दुष्ट आचार में प्रवृत्त होने वाला भी यही आत्मा है ।

मूलः-न तं अरी कंठछेत्ता करेइ ।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पया ॥
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते ।
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥ ४ ॥

छायाः-न तदरिः कण्ठछेत्ता करोति,
यत्तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता ।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः,
पश्चादनुतापेन दया विहीनः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (से) वह (अप्पणिया) अपना (दुरप्पया) दुराचरणशील आत्मा ही है जो (जं) उस अनर्थ को (करे)करता है । (तं) जिसे (कंठछेत्ता) कंठ का छेदन करने वाला (अरी) शत्रु भी (न) नहीं (करेइ) करता है (तु) परन्तु (से) वह (दयाविहूणो) दयाहीन दुष्टात्मा (मच्चुमुहं) मृत्यु के मुंह में (पत्ते) प्राप्त होने पर (पच्छाणुतावेण) पश्चाताप करके (नाहिई) अपने आप को जानेगा ।

भावार्थः-हे गौतम! यह दुष्टात्मा जैसे-जैसे अनर्थों को कर बैठता है वैसे अनर्थ एक शत्रु भी नहीं कर सकता है। क्योंकि शत्रु तो एक ही बार अपने शस्त्र से दूसरों के प्राण हरण करता है परन्तु यह दुष्टात्मा तो ऐसा अनर्थ कर बैठता है कि जिसके द्वारा अनेक जन्म-जन्मांतरों तक मृत्यु का सामना करना पड़ता है। फिर दयाहीन उस दुष्टात्मा को मृत्यु के समय पश्चात्ताप करने पर अपने कृत्य कार्यों का भान होता है कि अरे हा! इस आत्मा ने कैसे-कैसे अनर्थ कर डाले हैं।

मूलः-अप्पा चेवं दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ,अस्सिं लोए परत्थ य ॥५॥

छायाः-आत्मा चैव दमितव्यः आत्मा हि खलु दुर्दमः।
आत्मादान्त सुखी भवति,अस्मिल्लोके परत्र च॥५॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अप्पा) आत्मा (चेव) ही (दमेयव्वो) दमन करने योग्य है। (हु) क्योंकि (अप्पा) आत्मा (खलु) निश्चय (दुद्दमो) दमन करने में कठिन है। तभी तो (अप्पा) आत्मा को (दंतो) दमन करता हुआ (अस्सिं) इस (लोए) लोक में (य) और (परत्थ) परलोक में (सुही) सुखी (होइ) होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! क्रोधादि के वशीभूत होकर आत्मा उन्मार्ग-गामी होता है। उसे दमन करके अपने काबू में करना योग्य है। क्योंकि निजी आत्मा को दमन करना

अर्थात् विषय-वासनाओं से उसे पृथक् करना महान कठिन है और जब तक आत्मा को दमन न किया जाय तब तक उसे सुख नहीं मिलता है। इसलिए हे गौतम! आत्मा को दमन कर, जिस से इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त हो।

मूलः-वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिं य ॥ ६ ॥

छायाः-वरं मे आत्मादान्तः, संयमेन तपसा च।
माऽहं परैर्दमितः, बन्धनैर्वधैश्च ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति! आत्माओं को विचार करना चाहिए कि (मे) मेरे द्वारा (संजमेण) संयम (य) और (तवेण) तपस्या करके (अप्पा) आत्मा का (दंतो) दमन करना (वरं) प्रधान कर्त्तव्य है। नहीं तो (हं) मैं (परेहिं) दूसरों से (बंधणेहिं) बन्धनों द्वारा (य) और (वहेहिं) ताड़ना द्वारा (दम्मंतो) दमन (मा) कहीं न हो जाऊँ।

भावार्थः-हे गौतम! प्रत्येक आत्मा को विचार करना चाहिए कि अपने ही आत्मा-द्वारा संयम और तप से आत्मा को वश में करना श्रेष्ठ है। अर्थात् स्ववश करके आत्मा को दमन करना श्रेष्ठ है। नहीं तो फिर विषय वासना-सेवन के बाद कहीं ऐसा न हो कि उसके फल उदय होने पर इसी आत्मा को दूसरों के द्वारा बंधन आदि से अथवा लकड़ी, चाबुक, भाला बरछी आदि के घाव सहने पड़ें।

मूलः-जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥७॥

छायाः-यः सहस्रं सहस्राणाम्, संग्रामे दुर्जये जयेत् ।
एकं जयेदात्मानं, एषस्तस्य परमो जयः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जो) जो कोई मनुष्य (दुज्जए) जीतने में कठिन ऐसे (संगामे) संग्राम में (सहस्साणं) हजारका (सहस्सं) हजार गुणा अर्थात् दश लक्ष सुभटों को जीत ले उससे भी बलवान (एगं) एक (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (जिणिज्ज) जीते (एस) यह (से) उसका (जओ) विजय (परमो) उत्कृष्ट है।

भावार्थः--हे गौतम ! जो मनुष्य युद्ध में दश लक्ष सुभटों को जीत ले उस से भी कहीं अधिक विजय का पात्र वह है जो अपनी आत्मा में स्थित काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और माया आदि विषयों के साथ युद्ध करके और इन सभी को पराजित कर अपनी आत्मा को काबू में कर ले।

मूलः-अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ ८ ॥

छायाः-आत्मनैव युध्यस्व किं ते युद्धेन बाह्यतः ।
आत्मनैवात्मानं जित्वा सुखमेधते ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अप्पाणमेव) आत्मा के

साथ ही (जुज्झाहि) युद्ध कर (ते) तुझे (वज्झओ) दूसरों के साथ (जुज्झेण) युद्ध करने से (किं) क्या पड़ा है? (अप्पाणमेव) अपने आत्मा ही के द्वारा (अप्पाणं) आत्मा को (जइत्ता) जीत कर (सुहं) सुख को (एहए) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे गौतम! अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करके क्रोध, मद, मोहादि पर विजय प्राप्त कर। दूसरों के साथ युद्ध करने से कर्म-बंध के सिवाय आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं होता है। अतः जो अपनी आत्मा-द्वारा अपने ही मन को जीत लेता है उसीको सुख प्राप्त होता है।

मूलः-पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ९ ॥

छायाः-पञ्चेन्द्रियाणि क्रोधं मानं मायां तथैव लोभञ्च।
दुर्जयं चैवात्मानं सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (दुज्जयं) जीतने में कठिन ऐसे (पंचिंदियाणि) पाँचों इन्द्रियों के विषय (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) कपट (तहेव) वैसे ही (लोभं) तृष्णा (चेव) और भी मिथ्यात्व अव्रतादि (च) और (अप्पाणं) मन ये (सव्वं) सर्व (अप्पे) आत्मा को (जिए) जीतने पर (जियं) जीते जाते हैं।

भावार्थ—हे गौतम! जो भी पांचों इन्द्रियों के विषय और क्रोध, मान, माया लोभ तथा मन ये सब के सब दुर्जयी

हैं। तथापि अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेने से इन पर अनायास ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

मूलः-सरीरमाहु नाव त्ति; जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अएणवो वुत्तो; जं तरंति महेसिणो ॥१०॥

छायाः-शरीरमाहुर्नौरिति जीव उच्यते नाविकः।
संसारोऽर्णव उक्तः, यस्तरन्ति महर्षयः ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति। यह (संसारो) संसार (अएणवो) समुद्र के समान (वुत्तो) कहा गया है। इस में (सरीरं) शरीर (नाव) नौका के सदृश है। (आहुत्ति) ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है। और उसमें (जीवो) आत्मा (नाविओ) नाविक के तुल्य बैठ कर तिरनेवाला है। (वुच्चइ) ऐसा कहा गया है। अतः (जं) इस संसार समुद्र को (महेसिणो) ज्ञानी जन (तरंति) तिरते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! इस संसार-रूप समुद्र के परले पार जाने के लिए यह शरीर नौका के समान है जिस में बैठ कर आत्मा नाविक-रूप हो कर संसार-समुद्र को पार करता है।

मूलः-नाणं च दंसणं चेव; चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य; एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

छायाः-ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव चारित्रञ्च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्च एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) दर्शन (चेव) और (चरित्तं) चारित्र (च) और (तवो) तप (तहा) तथा प्रकार की (वीरियं) सामर्थ्य (य) और (उवओगो) उपयोग (एयं) यही (जीवस्स) आत्मा का (लक्खणं) लक्षण है।

भावार्थः-हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन, तप, क्रिया और सावधानीपन, उपयोग ये सब जीव [आत्मा] के लक्षण हैं।

मूलः-जीवाऽजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥१२॥

छायाःजीवा अजीवाश्च बन्धश्च पुण्यं पापाश्रवौ तथा।
संवरो निर्जरा मोक्षः सन्त्येते तथ्या नव ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जीवाऽजीवाय) चेतन और जड़ (य) और (बंधो) कर्म (पुण्णं) पुण्य (पावासवो) पाप और आश्रव (तहा) तथा (संवरो) संवर (निज्जरा) निर्जरा (मोक्खो) मोक्ष (एए) ये (नव) नौ पदार्थ (तहिया) तथ्य (संति) कहलाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जीव जिस में चेतना हो। जड़ चेतना रहित। बंध जीव और कर्म का मिलना। पुण्य शुभ कार्यों द्वारा संचित शुभ कर्म। पाप दुष्कृत्य-जन्य कर्म बंध आश्रव कर्म आने का द्वार। संवर आते हुए कर्मों का रुकना। निर्जरा एक देश कर्मों का क्षय होना। मोक्ष

सम्पूर्ण पाप पुण्यों से छूट जाना । एकान्त सुख के भोगी होना मोक्ष है ।

मूलः-धम्मो अहम्मो आगासं कालो पोग्गलजंतवो ।
एस लोगु त्ति पएणत्तो जिरोहिं वरदंसिहिं ॥१३॥

छायाः-धर्मोऽधर्म आकाश कालः पुद्गलजन्तवः ।
एषो लोक इति प्रज्ञप्तो जिनैर्वरदर्शिभिः ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (धम्मो) धर्मास्तिकाय (अहम्मो) अधर्मास्तिकाय (आगासं) आकाशास्तिकाय (कालो) समय (पोग्गलजंतवो) पुद्गल और जीव (एस) ये छः ही द्रव्य वाला (लोगुत्ति) लोक है । ऐसा (वरदंसिहिं) केवल ज्ञानी (जिरोहिं) जिनेश्वरों ने (पएणत्तो) कहा है ।

भावार्थः-हे गौतम ! धर्मास्तिकाय जो जीव और जड़ पदार्थों को गमन करने में सहायक हो । अधर्मास्तिकाय जीव और अजीव पदार्थों की गति को अवरोध करने में कारण भूत एक द्रव्य है । और आकाश, समय, जड़ और चेतन इन छः द्रव्यों को ज्ञानियों ने लोक कह कर पुकारा है ।

मूलः-धम्मो अहम्मो आगासं ; दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि य;कालो पुग्गलजंतवो ॥१४॥

छायाः-धर्मोऽधर्म आकाशं द्रव्यं एकैकमाख्यातम् ।
अनन्तानि च द्रव्याणि च कालः पुद्गलजन्तवः॥ १४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (धम्मो) धर्मास्तिकाय (अहम्मो) अधर्मास्ति काय (आगासं) आकाशास्ति काय (दव्वं) इन द्रव्यों को (इक्किक्कं) एक एक द्रव्य (आहियं) कहा है (य) और (कालो) समय (पुग्गलजंतवो) पुद्गल एवं जीव इन द्रव्यों को (अणंताणि) अनंत कहे हैं ।

भावार्थः--हे शिष्य ! धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों एक एक द्रव्य हैं । जिस प्रकार आकाश के टुकड़े नहीं होते, वह एक अखण्ड द्रव्य है, ऐसे ही धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय भी एक एक ही अखण्ड द्रव्य हैं और पुद्गल अर्थात्-वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाला एक मूर्त्त द्रव्य तथा जीव और [अतीत व अनागत की अपेक्षा] समय, ये तीनों अनंत द्रव्य माने गये हैं ।

मूलः-गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं;नहं ओगाहलक्खणं ॥१५॥

छायाः-गतिलक्षणस्तु धर्मः अधर्मः स्थानलक्षणः ।
भाजनं सर्वद्रव्याणाम् नभोऽवगाहलक्षणम् ॥१५॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (गइलक्खणो) गमन करने में सहायता देने का लक्षण है जिसका, उसको (धम्मो) धर्मास्ति काय कहते हैं । (ठाणलक्खणो) ठहरने में मदद

देने का लक्षण है जिसका, उसको (अहम्मो) अधर्मास्ति काय कहते हैं। और(सव्वदव्वाणं)सर्व द्रव्यों को(भायणं) आश्रय रूप (ओगाहलक्खणं) अवकाश देने का लक्षण है जिसका, उसको (नहं) आकाशास्ति काय कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जो जीव और जड़ द्रव्यों को गमन करने में सहायय भूत हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। और जो ठहरने में सहाय्य भूत हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। और पाँचों द्रव्यों को जो आधार भूत हो कर अवकाश दे उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं।

मूलः-वत्तणालक्खणो कालो;जीवो उव ओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणंच; सुहेण य दुहेण य ॥१६॥

छायाः-वर्त्तना लक्षणः कालो जीव उपयोगलक्षणः।
ज्ञानेन दर्शनेन च सुखेन च दुःखेन च ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (वत्तणालक्खणो)वर्तना है लक्षण जिसका उस को (कालो) समय कहते हैं (उवओगलक्खणो) उपयोग लक्षण है जिसका उसको (जीवो) आत्मा कहते हैं। उस की पहचान है (नाणेणं) ज्ञान (च) और (दंसणेणं) दर्शन (य) और (सुहेण) सुख (य) और (दुहेण) दुख के द्वारा

भावार्थः-हे शिष्य ! जीव और पुद्गल मात्र के पर्याय बदलने में जो सहायक होता है उसें काल कहते है। ज्ञानादि का एकांश या विशेषांश जिस में हो वही जीवा-

स्तिकाय है। जिस में उपयोग अर्थात् ज्ञानादि न सम्पूर्ण ही है और न अंश मात्र भी है, वह जड़ पदार्थ है। क्योंकि जो आत्मा है, वह सुख, दुख, ज्ञान, दर्शन का अनुभव करता है-इसी से इसे आत्मा कहा गया है और इन कारणों से ही आत्मा की पहचान मानी गई है।

मूलः सद्दंधयारउज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१७॥

छायाः-शब्दोऽन्धकार उद्योतःप्रभाच्छायाऽऽतप इति वा।
वर्णरसगन्धस्पर्शाः पुद्गलानाञ्च लक्षणम ॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (सद्दंधयार) शब्द अन्धकार (उज्जोओ) प्रकाश (पहा) प्रभा (छायाऽऽतेवइ) छाया, धूप आदि ये (वा) अथवा (वण्णरसगंधफासा) वर्ण रस, गंध, स्पर्शादिकको (पुग्गलाणं) पुद्गलों का (लक्खणं) लक्षण कहा है। (तु) पाद पूर्ति।

भावार्थः-हे गौतम! शब्द, अन्धकार, रत्नादिक का प्रकाश, चन्द्रादिक की कांति, शीतलता, छाया, धूप आदि ये सब और पाँचों वर्णादिक, सुगंध, पाँचों रसादिक और आठों स्पर्शादि से पुद्गल जाने जाते हैं।

मूलः-गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥१८॥

छाया:-गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रिता गुणाः।
लक्षणं पर्यवानां तु उभयोराश्रिता भवन्ति॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (गुणाणं) रूपादि गुणों का (आसओ) आश्रय जो है वह (दव्वं) द्रव्य है। और जो (एगदव्वसिया) एक द्रव्य आश्रित रहते आये हैं वे (गुणा) गुण हैं (तु) और (उभओ) दोनों के (अस्सिया) आश्रित (भवे) हो, वह (पज्जवाणं) पर्यायों, का (लक्खणं) लक्षण है।

भावार्थः-हे गौतम ! रूपादि गुणों का जो आश्रय हो, उसको द्रव्य कहते हैं। और द्रव्य के आश्रित रहनेवाले रूप, रस आदि ये सब गुण कहलाते हैं। और द्रव्य तथा गुण इन दोनों के आश्रित जो होता है, अर्थात् द्रव्य के अन्दर तथा गुणों के अन्दर जो पाया जाय वह पर्याय कहलाता है। अर्थात् गुण द्रव्य में ही रहता है किन्तु पर्याय द्रव्य और गुण दोनों में रहती है। यही गुण और पर्याय में अन्तर है।

मूलः-एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं॥१९॥

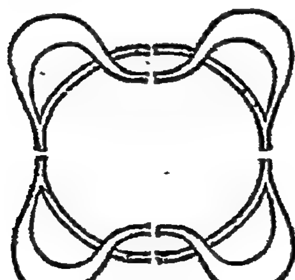
छाया:-एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च संख्या संस्थानमेव च।
संयोगाश्च विभागाश्च पर्यवाणां तु लक्षणम्॥१९॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पज्जवाणं) पर्यायों का (लक्खणं) लक्षण यह है, कि (एगत्तं) एक पदार्थ के ज्ञान का (च) और (पुहत्तं) उस से भिन्न पदार्थ के ज्ञान

का (च) और (संखा) संख्या का (य) और (संठाणमेव) आकार प्रकार का (संजोगा) एक से दो मिले हुओं का (य) और (विभागाय) यह इस से अलग है, ऐसा ज्ञान जो करावे वही पर्याय है ।

भवार्थः-हे गौतम ! पर्याय उसे कहते हैं, कि यह अमुक पदार्थ है, यह उस से अलग है, यह अमुक संख्या वाला है, इस आकार प्रकार का है, यह इतने समूह रूप में है, आदि ऐसा जो ज्ञान करावे वही पर्याय है । अर्थात् जैसे यह मिट्टी थी पर अब घट रूप में है । यह घट, उस घट से पृथक् रूप में है । यह घट संख्या बद्ध है । पहले नम्बर का है या दूसरे नम्बर का है । यह गोल आकार का है । यह चौरस आकार का है । यह दो घट का समूह है । यह घट उस घट से भिन्न है । आदि ऐसा ज्ञान जिस के द्वारा हो वही पर्याय है ।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥



ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(द्वितीय अध्याय)

कर्म निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः-अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियत्तइ ॥ १ ॥

छायाः-अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम् ।
यैर्बद्धोऽयं जीवः संसारे परिवर्त्तते ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अट्ठ) आठ (कम्माइं) करमों को (आणुपुव्विं) अनुपूर्वी से (जहक्कमं) क्रमवार (वोच्छामि) कहता हूँ, सो सुनो । क्योंके (जेहिं) उन्हीं कर्मों से (बद्धो) बंधा हुआ (अयं) यह (जीवो) जीव (संसारे) संसार में (परियत्तइ) परिभ्रमण करता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिन कर्मों को करके यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है, जिन के द्वारा संसार का अन्त नहीं होता है, वे कर्म आठ प्रकार के होते हैं । मैं उन्हें क्रम-पूर्वक और उनके स्वरूप के साथ कहता हूँ ।

मूलः-नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ ३ ॥

छायाः--ज्ञानस्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा ।
वेदनीयं तथा मोहं, आयुः कर्म तथैव च ॥२॥
नामकर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च ।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टौ तु समासतः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (नाणस्सावरणिज्जं) ज्ञानावरणीय (तहा) तथा (दंसणावरणं) दर्शनावरणीय (तहा) तथा (वेयणिज्जं) वेदनीय (मोहं) मोहनीय (तहेव) और (आउकम्मं) आयुष्कर्म (च) और (नामकम्मं) नाम कर्म (च) और (गोयं) गोत्र कर्म (य) और (तहेव) वैसे ही (अन्तरायं) अन्तराय कर्म (एवमेयाइ) इस प्रकार ये (कम्माइं) कर्म (अट्ठेव) आठ ही (समासओ) संक्षेप से ज्ञानी जनोंने कहे हैं । (उ) पादपूर्ति अर्थ में ।

भावार्थः--हे गौतम ! जिस के द्वारा बुद्धि एवं ज्ञान की न्यूनता हो, अर्थात् ज्ञान बुद्धि में बाधा रूप जो हो उसे ज्ञानावरणीय अर्थात् ज्ञान शक्ति को दबानेवाला कर्म कहते हैं । पदार्थ को साक्षात्कार करने में जो बाधा डाले, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा गया है । सम्यक्त्व और चारित्र को

जो विगाड़े, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जन्म मरण में जो सहाय्यभूत हो वह आयुष्कर्म माना गया है। जो शरीर आदि के निर्माण का कारण हो वह नाम कर्म है। जीव को जो लोकप्रतिष्ठित या लोकनिंद्य कुलों में उत्पन्न करने का कारण हो वह गोत्र कर्म कहलाता है। जीव की अनंत शक्ति प्रकट होने में जो बाधक रूप हो वह अन्तराय कर्म कहलाता है। इस प्रकार ये आठों ही कर्म इस जीव को चौरासी के चक्कर में डाल रहे हैं।

मूलः-नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

छायाः--ज्ञानावरणं पञ्चविधं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (नाणावरणं) ज्ञानावरणीय कर्म (पंचविहं) पांच प्रकार का है। (सुयं) श्रुतज्ञानावरणीय (आभिणिबोहियं) मतिज्ञानावरणीय (तइयं) तीसरा (ओहिनाणं) अवधिज्ञानावरणीय (च) और (मणनाणं) मनः पर्यव ज्ञानावरणीय (च) और (केवलं) केवल ज्ञानावरणीय।

भावार्थः--हे गौतम! अब ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद कहते हैं। सो सुनो। (१) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म-जिस के द्वारा श्रवण शक्ति आदि में न्यूनता हो। (२)मति-ज्ञानावरणीय-जिसके द्वारा समझने की शक्ति कम हो (३)

अवधिज्ञानावरणीय—जिस के द्वारा परोक्ष की बातें जानने में न आवें (४) मनः पर्यव ज्ञानावरणीय-दूसरों के मन की बात जानने में शक्ति हीन होना (५) केवल ज्ञानावरणीय—संपूर्ण पदार्थों के जानने में असमर्थ होना। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के फल हैं।

हे गौतम! अब ज्ञानावरणीय कर्म बंधने के कारण बताते हैं, सो सुनो (१) ज्ञानी के द्वारा बताये हुए तत्वों को असत्य बताना, तथा उन्हें असत्य सिद्ध करने की चेष्टा करना (२) जिस ज्ञानी के द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका नाम तो छिपा देना और मैं स्वयं ज्ञानवान् बना हूँ ऐसा वातावरण फैलाना (३) ज्ञान की असारता दिखलाना कि इस में पढ़ा ही क्या है? आदि कह कर ज्ञान एवं ज्ञानी की अवज्ञा करना। (४) ज्ञानी से द्वेष भाव रखते हुए कहना कि वह पढ़ा ही क्या है? कुछ नहीं। केवल ढोंगी होकर ज्ञानी होने का दम भरता है, आदि कहना (५) जो कुछ सीख पढ़ रहा हो उसके काम में बाधा डालने में हर तरह से प्रयत्न करना (६) ज्ञानी के साथ अण्ट सण्ट बोल कर व्यर्थ का झगड़ा करना। आदि आदि कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।

मूलः-निद्दा तहेव पयला; निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो अ थाणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥५॥
चक्खुमचक्खू ओहिस्स, दंसणे केवले अ आवरणे।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

छाया:-निद्रा तथैव प्रचला, निद्रानिद्रा च प्रचलाप्रचला च
ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु, पञ्चमा भवति ज्ञातव्या॥५॥
चक्षुरचक्षुरवधेः, दर्शने केवले चावरणे।
एवं तु नवविकल्पं, ज्ञातव्यं दर्शनावरणम्॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (निद्दा) सुख पूर्वक सोना (तहेव) से ही (पयला) बैठे बैठे ऊँघना (य) और (निद्दानिद्दा) खूब गहरी नींद (य) और (पयल-पयला) चलते चलते ऊँघना (त्तो अ) और इसके बाद (पंचमा) पांचवीं (थीणगिद्धी उ) स्त्यानगृद्धि (होई) है, ऐसा (नायव्वा) जानना चाहिए (चक्खुमचक्खू ओहिस्स) चक्षु, अचक्षु, अवधि के (दंसणे) दर्शन में (य) और (केवले) केवल में (आवरणे) आवरण (एवं तु) इस प्रकार (नवविगप्पं) नौ भेदवाला (दंसणावरणं) दर्शनावरणीय कर्म (नायव्वं) जानना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम! अब दर्शनावरणीय कर्म के भेद बतलाते हैं, सो सुनो (१) अपने आप ही नियत समय पर निद्रा से युक्त होना (२) बैठे बैठे, ऊँघना अर्थात् नींद लेना (३) नियत समय पर भी कठिनता से जागना (४) चलते फिरते ऊँघना और (५) पाँचवां भेद वह है कि सोते-सोते छः मास बीत जाना। ये सब दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। इसके सिवाय चक्षु में दृष्टिमान्द्य या अन्धेपन आदि प्रकार की हीनता का होना तथा सुनने की, सूँघने की, स्वाद लेने की, स्पर्श करने की, शक्ति में हीनता, अव-

धिदर्शन होने में और केवल दर्शन अर्थात् सारे जगत को हाथ की रेखा के समान देखने में रुकावट का आना ये सब के सब नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म के फल है। हे आर्य्य ! जब आत्मा दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है तब वह जीव ऊपर कहे हुए फलों को भोगता है। अब हम यह बतावेंगे कि जीव किन कारणों से दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है। सुनो—(१) जिस को अच्छी तरह से दीखता है उसे भी अन्धा और काना कह कर उस के साथ विरुद्धता करना (२) जिस के द्वारा अपने नेत्रों को फायदा पहुँचा हो और न देखने पर भी उस पदार्थ का सच्चा ज्ञान हो गया हो उस उपकारी के उपकार को भूल जाना (३)जिसके पास चक्षु ज्ञान से परे अवधिदर्शन है, जिस अवधिदर्शन से वह कई भव अपने एवं औरों के देख लेता है। उसकी अवज्ञा करते हुए कहना कि, क्या पड़ा है ऐसे अवधिदर्शन में? (४) जिस के दुखते हुए नेत्रों के अच्छे होने में वा चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु के द्वारा होनेवाले दर्शन में और अवधि दर्शन के प्राप्त होने में एवं सारे जगत् को हस्तामलकवत् देखनेवाले केवल दर्शन प्राप्त करने में रोड़ा अटकाना (५) जिसको नहीं दिखता है,या कम दिखता है, उसे कहे कि इस धूर्त को अच्छा दिखता है तो भी अन्धा बन बैठा है। चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु दर्शन का जिसे अच्छा बोध नहीं होता हो उसे कहे कि जान बूझ कर मूर्ख बन रहा है। और जो अवधि दर्शन से भव भवान्तर के कर्त्तव्यों को जान लेता है उसको कहे कि ढोंगी है। एवं केवल दर्शन से जो प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण करता है उसे असत्य वादी कह कर जो दर्शन के साथ द्वेष भाव करता है। (६) इसी

प्रकार चक्षुदर्शनीय, अवधिदर्शनीय एवं केवल दर्शनीय के साथ जो ठगठा करता है ।

मूलः-वेयणीयं पि दुविहं, सायमसायं च आहियं ।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव आसायस्स वि ॥७॥

छायाः-वेदनीयमपि च द्विविं,सातमसातं चाख्यातम् ।
सातस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवासातस्यापि॥७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति !(वेयणीयं पि) वेदनीय कर्म भी (सायमसायं च) साता और असाता (दुविहं) यों दो प्रकार का (आहियं) कहा गया है। (सायस्स) साता के (उ) तो (बहू) बहुत से (भेया) भेद है । (एमेव आसा यस्स वि) इसी प्रकार असाता वेदनीय के भी अनेक भेद हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! फुंसी, फोड़े, ज्वर नेत्रशूल आदि अन्य तथा सब शारीरिक और मानसिक वेदना असाता-वेदनीय कर्म के फल हैं। इसी तरह निरोग रहना, चिन्ता फिक्र कुछ भी नहीं होना ये सब शारीरिक और मानसिक सुख साता-वेदनीय कर्म के फल हैं । हे गौतम ! यह जीव साता और असाता वेदनीय कर्मों को किन किन कारणों से बांध लेता है, सो अब सुनो,धन सम्पत्ति आदि ऐहिक सुख प्राप्ति होने का कारण सातावेदनीय का बन्धन है । यह साता वेदनीय बन्धन इस प्रकार बँधता है-दो इन्द्रियवाले लट गिंडोरे आदि; तीन इन्द्रियवाले मकोड़े, चींटियाँ, जूँ

आदि; चार इन्द्रियवाले मक्खी, मच्छर, भौंरे आदि; पांच इन्द्रियवाले हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट, गाय, बकरी आदि तथा वनस्पति स्थित जीव और पृथ्वी, पानी, आग, वायु इन जीवों को किसी प्रकार से कष्ट और शोक नहीं पहुँचाने से एवं इन को झुराने तथा अश्रुपात न कराने से, लात घूँसा आदि से न पिटने से परितापना न देने से, इनका विनाश न करने से, सातावेदनीय का बँध होता है।

शारीरिक और मानसिक जो दुख होता है, वह असाता वेदनीय कर्म के उदय के कारणों से होता है। वे कारण यों हैं। प्राण, भूत, जीव, और सत्व इन चारों ही प्रकार के जीवों को दुःख देने से, फिक्र उत्पन्न कराने से, झुराने से अश्रुपात कराने से, पीटने से, परिताप व कष्ट उत्पन्न कराने से असाता वेदनीय का बंध होता है।

मूलः-मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥८॥

छायाः-मोहनीयमपि द्विविधं, दर्शने चरणे तथा।
दर्शने त्रिविधमुक्तं, चरणे द्विविधं भवेत् ॥८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (मोहणिज्जं पि) मोहनीय कर्म भी (दुविह) दो प्रकार का है। (दंसणे) दर्शन मोहनीय (तहा) तथा (चरणे) चारित्र मोहनीय। अब (दंसणे) दर्शन मोहनीय कर्म (तिविहं) तीन प्रकार का (वुत्तं) कहा गया है। और (चरणे) चारित्र मोहनीय (दुविहं) दो प्रकार का (भवे) होता है।

भावार्थः-हे गौतम! मोहनीय कर्म जो जीव बांध लेता है उसको अपने आत्मीय गुणों का भान नहीं रहता है। जैसे मदिरा पान करने वाले को कुछ भान नहीं रहता। उसी तरह मोहनीय कर्म के उदय रूप में जीव को शुद्ध श्रद्धा और क्रिया की तरफ भान नहीं रहता है। यह कर्म दो प्रकार का कहा गया है। एक दर्शन मोहनीय दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन प्रकार और चारित्र मोहनीय के दो प्रकार होते हैं।

मूलः-सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिरिण पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥९॥

छायाःसम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्वं,सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च ।
एतास्तिस्रः प्रकृतयः मोहनीयस्य दर्शने ॥९॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति, (मोहणिज्जस्स) मोहनीय संबंध के (दंसणे) दर्शन में अर्थात् दर्शन मोहनीय में (एयाओ) ये (तिरणी) तीन प्रकार की (पयडीओ) प्रकृतियाँ हैं (सम्मत्तं) सम्यक्त्व मोहनीय (मिच्छत्तं) मिथ्यात्व मोहनीय (य) और (सम्मामिच्छत्तमेव) सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीय।

भावार्थः-हे गौतम! दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है। एक तो सम्यक्त्व मोहनीय-इस के उदय में जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु मोहवश ऐहिक सुख के लिए तीर्थंकरों की माला जपता रहता है। यह सम्य-

क्त्व मोहनीय कर्म का उदय है । यह कर्म जब तक बना रहता है तब तक उस जीव के मोक्ष के सान्निध्यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है । और दूसरा मिथ्यात्व-मोहनीय है । इस के उदय काल में जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है । और इसी लिए वह जीव चौरासी का अन्त नहीं पा सकता। चौदहवें गुण-स्थान के बाद ही जीव की मुक्ति होती है । पर यह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नहीं रखने देता । तब फिर तीसरे और चौथे गुणस्थान की तो बात ही निराली है । इसका तीसरा भेद समामिथ्यात्व मोह-नीय है । इस के उदय काल में जीव सत्य असत्य दोनों को बराबर समझता है । जिससे हे गौतम ! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणी में है और न पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी ही है । अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुण स्थान के ऊपर देखने तक का भी मौका नहीं देता है । हे गौतम ! अब हम चारित्र मोहनीय के भेद कहते हैं, सो सुनो ।

मूलः—चारित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तं विआहियं ।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

छायाः-चारित्रमोहनं कर्म द्विविधं तद् व्याख्यातम् ।
कषायमोहनीयं तु नोकषायं तथैव च ॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (चारित्तमोहणं) चारित्र मोह-नीय (कम्मं) कर्म (तं) वह (दुविहं) दो प्रकार का (विआहियं) कहा गया है । (कसायमोहणिज्जं) क्रोधादि

रूप भोगने में आवे वह (य) और (तहेव) वैसे ही (नोकसायं) क्रोधादि के सहचारी, हास्यादिक के रूप में जो अनुभव में आवे ।

भावार्थः--हे गौतम ! संसार के सम्पूर्ण वैभव को त्यागना चारित्र धर्म कहलाता है, उस चारित्र के अङ्गीकार करने में जो रोड़ा अटकाता है उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं । यह कर्म दो प्रकार का है । एक तो क्रोधादि रूप में अनुभव आता है । अर्थात हंसना, भोगों में आनंद मानना, धर्म में नाराजी आदि होना वह इस कर्म का उदय है ।

मूलः-सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं ।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥११॥

छायाः-षोडश विधभेदेन कर्म तु कषायजम् ।
सप्तविधं नवविधं वा, कर्म च नोकषायजम् ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (कसायजं) क्रोधादिक रूप से उत्पन्नहोनेवाला (कम्मं तु) कर्म तो (भेएणं) भेदों करके (सोलसविह) सोलह प्रकार का है। (च) और (नोकसायजं) हास्यादि से उत्पन होने वाला जो (कम्मं) कर्म है वह (सत्तविहं) सात प्रकार का (वा) अथवा (नवविहं) नौ प्रकार का माना गया है ।

भावार्थः-हे गौतम ! क्रोधादि से उत्पन्न होनेवाले कर्म के सोलह भेद हैं । अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया,

लोभ, यों अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन के चार भेदों के साथ इसके सोलह भेद हो जाते हैं। और नोकषाय से उत्पन्न होने वाले कर्म के सात अथवा नौ भेद कहे गये हैं। वे यों हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद यों सात भेद होते हैं और वेद के उत्तर भेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) लेने से नौ भेद हो जाते हैं। अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोभ करने से तथा मिथ्या श्रद्धा में रत रहने से और अव्रती रहने से मोहनीय कर्म का बंध होता है।

हे गौतम ! अब हम आयुष्यकर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

मूलः-नेरइयतिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य ।
देवाउअं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

छायाः-नैरयिकतिर्यगायुः मनुष्यायुस्तथैव च ।
देवायुश्चतुर्थं तु आयुः कर्म चतुर्विधम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आउकम्मं) आयुष्य कर्म (चउव्विहं) चार प्रकार का है (नेरइयतिरिक्खाउं) नरकायुष्य तिर्यंचायुष्य (तहेव) वैसे ही (मणुस्साउं) मनुष्यायुष्य (य) और (चउत्थं तु) चौथा (देवाउअं) देवायुष्य है।

भावार्थः-हे गौतम ! आत्मा के नियत समय तक एक ही शरीर में रोक रखने वाले कर्म को आयुष्य कर्म कहते हैं। यह आयुष्य कर्म चार प्रकार का है। (१) नरक योनि में रखने वाला नरकायुष्य (२) तिर्यंच योनि में रखने वाला तिर्यंचा-

युष्य (३) मनुष्य योनि में रखने वाला मनुष्यायुष्य और (४) देव योनि में रखने वाला देवायुष्य कहलाता है।

हे गौतम ! अब हम इन चारों जगह का आयुष्य किन किन कारणों से बँधता है उसे कहते हैं। महारम्भ करना, अत्यन्त लालसा रखना, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना तथा माँस खाना, आदि ऐसे कार्यों से नरकायुष्य का बंध होता है। कपट करना, कपट पूर्वक फिर कपट करना, असत्य भाषण करना, तौलने की वस्तुओं में और नापने की वस्तुओं में कमीवेशी लेना देना आदि ऐसे कार्यों के करने से तिर्यंचायुष्य का बंध होता है। निष्कपट व्यवहार करना, नम्रभाव होना, सब जीवों पर दया भाव रखना, तथा ईर्षा नहीं करना आदि कार्यों से मनुष्यायुष्य का बंध होता है। सराग संयम व ग्रहस्थ धर्म के पालने, अज्ञानयुत तपस्या करने, बिना इच्छा से भूख, प्यास आदि सहन करने तथा शील व्रत पालने से देवायुष्य का बंध होता है।

हे गौतम ! अब हम आगे नाम कर्म का स्वरूप कहते हैं, सो सुनोः—

मूलः-नामकम्मं तु दुविहं, सुहं असुहं च आहियं ।
सुहस्स तु बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

छायाः-नामकर्म तु द्विविधं शुभमशुभं चाख्यातम् ।
शुभस्य तु बहवो भेदा एवमेवाशुभस्याऽपि ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नामकम्मं तु) नाम कर्म तो (दुविहं) दो प्रकार का (आहियं) कहा गया है।

(सुहं) शुभ नाम कर्म (च) और (असुहं) अशुभ नाम कर्म जिस में (सुहस्स) शुभ नाम कर्म के (तु) तो (बहू) बहुत (भेया) भेद हैं। (असुहस्स वि) अशुभ नाम कर्म के भी (एमेव) इसी प्रकार अनेक भेद माने गये हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस के द्वारा शरीर सुन्दराकार हो अथवा जो असुन्दराकार होने में कारण भूत हो वही नाम कर्म है । यह नाम कर्म दो प्रकार का माना गया है। उन में से एक शुभ नाम कर्म और दूसरा अशुभ नाम कर्म है। मनुष्य शरीर, देव शरीर, सुन्दर अंगोपाङ्ग गौर वर्णादि, वचन में मधुरता का होना, लोकप्रिय, यशस्वी तीर्थंकर आदि आदि का होना, ये सब शुभ नाम कर्म के फल हैं। नारकीय, तिर्यंच का शरीर धारण करना, पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि में जन्म लेना, बेडौल अंगोपाङ्गों का पाना, कुरूप और अयशस्वी होना । ये सब अशुभ नाम कर्म के फल हैं।

हे गौतम ! शुभ अशुभ नाम कर्म कैसे बँधता है सो सुनोः-मानसिक वाचिक और कायिक कृत्य की सरलता रखने से और किसी के साथ किसी भी प्रकार का वैर विरोध न करने व न रखने से शुभनाम कर्म बँधता है । शुभनाम कर्म के बंधन से विपरीत वर्ताव के करने से अशुभ नाम कर्म बँधता है।

हे गौतम ! अब हम आगे गोत्र कर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

मूलः-गोयकम्मं तु दुविहं, उच्चं नीअं च आहिअं ।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीअं वि आहिअं ॥१४॥

छाया:-गोत्रकर्म तु द्विविधं, उच्चं नीचं चाख्यातम्।
उच्चमष्टविधं भवति, एवं नीचमप्याख्यातम् ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (गोयकम्मं तु) गोत्र कर्म (दुविहं) दो प्रकार का (आहिअं) कहा गया है। (उच्चं) उच्च गोत्र कर्म (च) और (नीअं) नीच गोत्र कर्म (उच्चं) उच्च गोत्र कर्म (अट्ठविहं) आठ प्रकार का (होइ) है (नीअं वि) नीच गोत्र कर्म भी (एवं) इसी तरह आठ प्रकार का होता है ऐसा (आहिअं) कहा गया है।

भावार्थः-हे गौतम! उच्च तथा नीच जाति आदि मिलने में जो कारण भूत हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह गोत्र कर्म ऊंच, नीच में विभक्त होकर आठ प्रकार का होता है। ऊंच जाति और ऊंचे कुल में जन्म लेना, बलवान होना, सुन्दराकार होना, तपवान् होना, प्रत्येक व्यवहार में अर्थ प्राप्ति का होना, विद्वान् होना, ऐश्वर्यवान् होना ये सब ऊंच गोत्र के फल है। और इन सब बातों के विपरीत जो कुछ है उसे नीच गोत्र कर्म का फलादेश समझो।

हे गौतम! वह ऊँच नीच गोत्र कर्म इस प्रकार से बँधता है। स्वकीय माता के वंश का, पिता के वंश का, ताकत का, रूप का, तप का, विद्वत्ता का और सुलभता से लाभ होने का, घमण्ड न करने से ऊंच गोत्र कर्म का बंध होता है। और इस के विपरीत अभिमान करने से नीच गोत्र का बंध होता है। हे गौतम! अब अन्तराय कर्म का स्वरूप बतलाते हैं।

मूलः-दाणे लाभे य भोगे य; उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं, समासेण विआहियं ॥ १५ ॥

छाया:-दाने लाभे च भोगे च, उपभोगे वीर्ये तथा ।
पञ्चविधमन्तरायं, समासेन व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अन्तरायं) अन्तराय कर्म (समासेण) संक्षेप से (पंचविहं) पाँच प्रकार का (विआहियं) कहा गया है । (दाणे) दानान्तराय (य) और (लाभे) लाभान्तराय (भोगे) भोगान्तराय (य) और (उवभोगे) उपभोगान्तराय (तहा) वैसी ही (वीरिए) वीर्यान्तराय ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस के उदय से इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा आवे वह अन्तराय कर्म है । इस के पाँच भेद हैं । दान देने की वस्तु के विद्यमान होते हुए भी , दान देने का अच्छा फल जानते हुए भी, जिसके कारण दान नहीं दिया जासके वह दानान्तराय है । व्यवहार में वा माँगने में सब प्रकार की सुविधा होते हुए भी जिसके कारण प्राप्त न हो सके वह लाभान्तराय है । खान पान आदि की सामग्री के व्यवस्थित रूप से होने पर भी जिसके कारण खा पी न सके, खा और पी भी लिया तो हज़म न किया जासके, वह भोगान्तराय कर्म है । भोग पदार्थ वे हैं, जो एक बार काम में आते हैं । जैसे भोजन, पानी आदि । और जो बार बार काम में आते हैं उन्हें उपभोग माना गया है जैसे वस्त्र, आभूषण आदि । अतः जिसके उदय से उपभोग की सामग्री संघटित रूप से स्वाधीन होते हुए भी अपने काम में न ली जा सके उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं । और जिसके उदय से

युवान और बलवान् होते हुए भी कोई कार्य न किया जा सके, वह **वीर्यान्तराय कर्म** का फलादेश है।

हे गौतम ! यह अन्तराय कर्म निम्न प्रकार से बँधता है। दान देते हुए के बीच बाधा डालने से, जिसे लाभ होता हो उसे धक्का लगाने से, जो खा-पी रहा हो या खाने, पीने का जो समय हुआ हो उसे टालने से, जो उपभोग की सामग्री को अपने काम में ला रहा हो उसे अन्तराय देने से तथा जो सेवा धर्म का पालन कर रहा हो उस के बीच रोड़ा अटकाने से आदि-आदि कारणों से वह जीव अन्तराय कर्म बांध लेता है।

हे गौतम ! अब हम आठों कर्मों की पृथक् पृथक् स्थिति कहेंगे सो सुनो।

मूलः-उदहीसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य ।
अंतराए य कम्मंमि, ठिई एसा विआहिया ॥१७॥

छायाः-उदधिसदृङ्नाम्नां, त्रिंशत्कोटाकोटयः ।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१६॥
आवरणयोर्द्वयोरपि वेदनीये तथैव च ।
अन्तराये च कर्मणि स्थितिरेषा व्याख्याता॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (दुण्हं पि) दोनों ही (आवरणिज्जाण) ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म

की (तीसई) तीस (कोडिकोडीओ) कोटाकोटि (उदहीसरिसनामाणं) समुद्र के समान है नाम जिसका ऐसा सागरोपम (उक्कोसिया) ज़्यादा से ज़्यादा (ठिई) स्थिति (होइ) है (तहेव) वैसे ही (वेयणिज्जे) वेदनीय (अ) और (अन्तराए) अन्तराय (कम्मम्मि) कर्म के विषय में भी (ऐसा) इतनी ही उत्कृष्टी स्थिति है और (जहण्णिया) कम से कम चारों कर्मों की (अन्तोमुहुत्तं) अन्तरमुहूर्त्त (ठिई) स्थिति (विआहिया) कही है।

भावार्थः-हे गौतम ! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तराय ये चारों कर्म अधिक से अधिक रहें तो तीस कोडाकोडी (तीस क्रोड़ को तीस क्रोड़ से गुणा करने पर जो गुणनफल आवे उतने) सागरोपम की इन की स्थिति मानी गयी है । और कम से कम रहें तो अन्तर मुहूर्त्त की इन की स्थिति होती है ।

मूलः-उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८॥

तेत्तीसं सागरोवम, उक्कोसेण विआहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१९॥

उदहीसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया ॥२०॥

छाया:-उदधिसदृङ्नाम्नां सप्ततिः कोटाकोटयः ।
मोहनीयस्योत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१८॥
त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
स्थितिस्तु आयुःकर्मणः, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१९॥
उदधिसदृङ्नाम्नां, विंशतिः कोटाकोटयः ।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा अष्ट मुहूर्त्ता जघन्यका ॥ २० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति (सत्तर) सत्तर (कोडिकोडीओ) कोटा कोटि (उदहीसरिसनामाणं) सागरोपम है । और (जहण्णिया) जघन्य (अन्तोमुहुत्तं) अन्तरमुहूर्त्त और (आउकम्मस्स) आयुष्य कर्म की (उक्कोसेण) उत्कृष्ट स्थिति (तेत्तीसं सागरोवम) तेतीस सागरोपम की है। और (जहण्णिया) जघन्य (अन्तोमुहुतं) अन्तरमुहूर्त्त की और इसी प्रकार (नामगोत्ताणं) नाम कर्म और गोत्र कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट स्थिति (वीसई) बीस (कोडिकोडीओ) कोटाकोटि (उदहीसरिसनामाणं) सागरोपम की है। और (जहण्णिया) जघन्य (अट्ठ) आठ (मुहुत्ता) मुहूर्तकी (ठिई) स्थिति (वियाहिया) कही है।

भावार्थः-हे गौतम ! मोहनीय कर्म की ज़्यादा से ज़्यादा स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम की है । और जघन्य (कम से कम) स्थिति अन्तर मुहूर्त्त की है। आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की और जघन्य अन्तर मुहूर्त्त की है। नाम कर्म एवं गोत्र कर्म की उत्कृष्ट

स्थिति बीस क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम की है और जघन्य आठ मुहूर्त्त की कही है।

मूलः-एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥२१॥

छायाः-एकदा देवलोकेषु नरकेष्वेकदा।
एकदा आसुरं कायं, यथा कर्म भिर्गच्छति ॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (अहाकम्मेहिं) जैसे कर्म किये हैं, उन के अनुसार आत्मा (एगया) कभी तो (देवलोएसु) देवलोक में (एगया) कभी (नरएसु वि) नरक में (एगया) कभी (आसुरं) भवनपति आदि असुर की (कायं) काय में (गच्छइ) जाता है।

भावार्थः-हे गौतम! आत्मा जब शुभ कर्म उपार्जन करता है तो वह देवलोक में जाकर उत्पन्न होता है। यदि वह आत्मा अशुभ कर्म उपार्जन करता है तो नरक में जाकर घोर यातना सहता है। और कभी अज्ञान पूर्वक विना इच्छा से क्रिया काण्ड करता है तो वह भवनपति आदि देवों में जाकर उत्पन्न होता है। इस से सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जैसा कर्म करता है वैसा स्थान पाता है।

मूलः-तेणे जहा संधिमुहे गहीए;
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए;
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥ २२ ॥

छाया::-स्तेनो यथा सन्धिमुखे गृहितः,
स्वकर्मणा क्रियते पापकारी ।
एवं प्रजा प्रेत्यइह च लोके,
कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पावकारी) पाप करने वाला (तेणे) चोर (संधिमुहे) खात के मुँह पर (गहीए) पकड़ा जा कर (सकम्मुणा) अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ही (किच्चई) छेदा जाता है, दुःख उठाता है, (एवं) इसी प्रकार (पया) प्रजा अर्थात् लोक (पेच्चा) परलोक (च) और (इहंलोए) इस लोक में किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा दुःख उठाते हैं । क्योंकि (कडाण) किये हुए (कम्माण) कर्मों को भोगे विना (मुक्ख) छुटकारा (न) नहीं (अत्थि) होता ।

भावार्थः–हे गौतम ! कर्म कैसे हैं ? जैसे कोई अत्याचारी चोर खात के मुँह पर पकड़ा जाता है, और अपने कृत्यों के द्वारा कष्ट उठाता है अर्थात् प्राणान्त कर बैठता है । वैसे ही यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों के द्वारा इस लोक और परलोक में महान् दुःख उठाता है । क्योंकि किये हुए कर्मों को भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता है ।[1]

---

(१) किसी समय कई एक चोर चोरी करने जा रहे थे । उन में एक सुतार भी शामिल हो गया । वे चोर एक नगर में एक धनाढ्य सेठ के यहां पहुँचे । वहां उन्होंने सेंध लगाई । सेंध लगाते लगाते दीवाल में काठ का एक पटिया

मूलः-संसारमावण्ण परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उविंति ॥ २३ ॥

दिख पड़ा, तब वे चोर साथ के उस सुतार से बोले कि अब तुम्हारी बारी है, पटिया काटना तुम्हारा काम है। अतः सुतार अपने शस्त्रों द्वारा काठ के पटिये को काटने लगा। अपनी कारीगरी दिखाने के लिए सैंध के छेदों में चारों ओर तीखे तीखे कंगुरे उसने बना दिये। फिर वह खुद चोरी करने के लिए अन्दर घुसा। ज्योंही उसने अंदर पैर रखा, त्यों ही मकान मालिक ने उसका पैर पकड़ लिया। सुतार चिल्लाया, दौड़ो दौड़ो, और बोला-म—का—न मा—लि--क--मकान मा—लि—क ! मेरे पाँव छुड़ाओ। यह सुनते ही चोर झपटे, और लगे सर पकड़ कर खींचने। सुतार बेचारा बड़े ही झमेले में पड़ गया। भीतर और बाहर दोनों तरफ से जोरों की खींचातानी होने लगी। बस, फिर क्या था ? जैसे बीज उसने बोये फसल भी वैसी ही उसे काटनी पड़ी। उस के निजू बनाये हुए सैंध के पैने पैने कंगूरों ही ने उसके प्राणों का अन्त कर दिया। आत्मा के लिए भी यही बात लागू होती है। वह भी अपने ही अशुभ कर्मों के द्वारा लोक और परलोक में महान् कष्टों के झकझोरों में पड़ता है।

छाया:-संसारमापन्नः परस्यार्थाय,
साधारणं यच्च करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले,
न बान्धवा बान्धवत्त्वमुपयान्ति ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (संसारमावएण) संसार के पपंच में फंसा हुआ आत्मा (परस्स) दूसरों के (अट्ठा) लिए (च) तथा (साहारणं) स्व और पर के लिए (जं) जो (कम्मं) कर्म (करेइ) करता है। (तस्स उ) उस (कम्मस्स) कर्म के (वेयकाले) भोगते समय (ते) वे (बंधवा) कौटुम्बिक जन (बंधवयं) बन्धुत्वपन को (न) नहीं (उविंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! संसारी आत्मा ने दूसरों के तथा अपने लिए जो दुष्ट कर्म उपार्जन किये हैं, वे कर्म जब उसके फल स्वरूप में आवेंगे उस समय जिन बन्धु बान्धवों और मित्रों के लिए तथा स्वतः के लिए वे दुष्कर्म किये थे वे कोई भी आकर पाप के फल भोगने में सम्मिलित नहीं होंगे।

मूलः-न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्ग न सुया न बन्धवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तार मेव अणुजाइ कम्मं ॥ २४ ॥

छाया:-न तस्य दुःखं विभजन्ते ज्ञातयः,
न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः ।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं,
कर्त्तारमेवानुयाति कर्म ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तस्स) उस पाप कर्म करने वाले के (दुक्खं) दुःख को (नाइओ) स्वजन वगैरह भी (न) नहीं (विभयंति) विभाजित कर सकते हैं और (न) न (मित्तवग्गा) मित्रवर्ग (न) न (सुया) पुत्र वर्ग (न) न (बंधवा) बन्धुजन, कर्मों के फल में भाग ले सकते हैं। (इक्को) वही अकेला (दुक्खं) दुःख को (पच्चणुहोइ) भोगता है । क्योंकि (कम्मं) कर्म (कत्तारमेवं) करने वाले ही के साथ (अणुजाइ) जाता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! किये हुए कर्मों का जब उदय होता है उस समय ज्ञाति जन, मित्र लोग, पुत्रवर्ग, बन्धु जन आदि कोई भी उस में हिस्सा नहीं बँटा सकते हैं । जिस आत्माने कर्म किये हैं वही आत्मा अकेला उसका फल भोगता है । यहाँ से मरने पर किये हुए कर्म करने वाले के साथ ही जाते हैं ।

मूलः-चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥ २५ ॥

छायाः-त्यक्त्वा द्विपदं चतुष्पदं च,
क्षेत्रं गृहं धनधान्यं च सर्वम्।
स्वकर्म द्वितीयोऽवशः प्रयाति,
परं भवं सुन्दरं पापकं वा ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सकम्मबीओ) आत्मा का दूसरा साथी उसका अपना किया हुआ कर्म ही है। इसी से (अवसो) परवश होता हुआ यह जीव (सव्वं) सब (दुपयं) स्त्री, पुत्र, दास, दासी आदि (च) और (चउप्पयं) हाथी घोड़े आदि (च) और (खित्तं) खेत वगैरह (गिहं) घर (धण) रुपया, पैसा, सिक्का वगैरह (धन्नं) अन्न वगैरह को (चिच्चा) छोड़ कर (सुन्दरं) स्वर्गादि उत्तम (वा) अथवा (पावगं) नरकादि अधम ऐसे (परं-भवं) परभव को (पयाइ) जाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! स्वकृत कर्मों के आधीन होकर यह आत्मा स्त्री, पुत्र, हाथी, घोड़े, खेत, घर, रुपया, पैसा, धान्य, चाँदी, सुवर्ण आदि सभी को मृत्यु की गोद में छोड़ कर जैसे भी शुभाशुभ कर्म इस के द्वारा किये होते हैं उन के अनुसार, स्वर्ग तथा नरक में जाकर उत्पन्न होता है।

मूलः-जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥२६॥

छायाः-यथा चाण्डप्रभवा बलाका,
अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च ।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णा,
मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति ॥२६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जहा य) जैसे (अंडप्पभवा) अण्डा से बगुली उत्पन्न हुई (य) और (जहा) जैसे (बलागप्पभवं) बगुली से अंडा उत्पन्न हुआ (एमेव) इसी तरह (खु) निश्चय कर के (मोहाययणं) मोहका स्थान (तण्हा) तृष्णा (च) और (तण्हाययणं) तृष्णा का स्थान (मोहं) मोह है, ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे अण्डे से बगुली (मादा-बगुला) उत्पन्न होती है और बगुली से अण्डा पैदा होता है । इसी तरह से मोह कर्म से तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है । हे गौतम ! ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं ।

मूलः-रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥ २७ ॥

छाया:-रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मवीजं,
कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति।
कर्म च जातिमरणयोर्मूलं,
दुःखं च जातिमरणं वदन्ति ॥२७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (रागो) राग (य) और (दोसो वि य) दोष ये दोनों (कम्मं वीयं) कर्म उत्पन्न करने में कारण भूत हैं (च) और (कम्मं) कर्म (मोहप्प भवं) मोह से उत्पन्न होते हैं। ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं। (च) और (जाईमरणस्स) जन्म मरण का (मूलं) मूल कारण (कम्मं) कर्म है (च) और (जाईमरणं) जन्म मरण ही (दुक्खं) दुःख है, ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! वे राग और द्वेष कर्म से उत्पन्न होते हैं और कर्म मोह से पैदा होते हैं। यही कर्म जन्म मरण का मूल कारण है और जन्म मरण ही दुःख है, ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि राग द्वेष और कर्म में परस्पर द्विमुख कार्य कारण भाव है। जैसे बीज, वृक्ष का कारण और कार्य दोनों है तथा वृक्ष भी बीज का कार्य कारण है, उसी प्रकार कर्म राग द्वेष का कार्य भी है और कारण भी; तथा राग द्वेष कर्म का कार्य भी है और कारण भी है।

मूल:-दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तरहा।
तरहा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥ २८ ॥

छायाः--दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः,
मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा ।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः,
लोभो हतो यस्य न किञ्चन ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः--(जस्स) जिसने (दुक्खं) दुःख को (हयं) नाश कर दिया है उसे (मोहो) मोह (न) नहीं (होइ) होता है और (जस्स) जिसने (मोहो) मोह (हओ) नष्ट कर दिया है उसे (तण्हा) तृष्णा (न) नहीं (होइ) होती । (जस्स) जिसने (तण्हा) तृष्णा (हया) नष्ट करदी उसे (लोहो) लोभ (न) नहीं (होइ) होता, और (जस्स) जिसने (लोहो) लोभ (हओ) नष्ट कर दिया उसके (किंचणाइं) ममत्व (न) नहीं, रहता ।

भावार्थः--हे गौतम ! जिसने दुःख रूपी भयंकर सागर का पार पा लिया है वह मोह के बन्धन में नहीं पड़ता । जिसने मोह का समूल उन्मूलन कर दिया है उसे तृष्णा नहीं सता सकती । जिसने तृष्णा का त्याग कर दिया है उस में लोभ की वासना क़ायम नहीं रह सकती । जो पाप के बाप लोभ से मुक्त हो गया, उस के सभी कुछ मानों नष्ट हो गया । निर्लोभता के कारण वह अपने को अकिंचन समझने लगता है ।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥



ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(तृतीय अध्याय)

धर्म-स्वरूप वर्णन

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाई उ ।
जीवा सोहिमणुपत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥१॥

छायाः-कर्मणां तु प्रहाण्या, आनुपूर्व्या कदापि तु ।
जीवा शुद्धिमनुप्राप्ताः, आददते मनुष्यताम् ॥१॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आणुपुव्वी) अनुक्रम से (कम्माणं) कर्मों की (पहाणाए) न्यूनता होने पर (कयाइ उ) कभी (जीवा) जीव (सोहिमणुपत्ता) शुद्धता प्राप्त कर (मणुस्सयं) मनुष्यत्व को (आययंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह जीव अनेक जन्मों में दुःख सहन करता हुआ धीरे धीरे मनुष्य जन्म के बाधक कर्मों को नष्ट कर लेता है। तब कहीं कर्मों के भार से हलका होकर मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है।

मूलः-वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ।
उविंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२॥

छायाः-विमात्राभिः शिक्षाभिः, ये नरा गृहि-सुव्रताः ।
उपयान्ति मानुष्यं योनिं, कर्मसत्या हि प्राणिनः ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (नरा) मनुष्य (वेमायाहिं) विविध प्रकार की (सिक्खाहिं) शिक्षाओं के साथ (गिहि सुव्वया) गृहस्थावास में सुव्रतों 'अणुव्रतों' का आचरण करने वाले हों, वे मनुष्य फिर (माणुसं) मनुष्य (जोणिं) योनि को (उविंति) प्राप्त होते हैं । (हु) क्योंकि (पाणिणो) प्राणी (कम्मसच्चा) सत्य कर्म करने वाला है, अर्थात् जैसे कर्म वह करता है वैसी ही उसकी गति होती है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जो नाना प्रकार के त्याग धर्म को धारण करता है, प्रत्येक के साथ निष्कपट व्यवहार करता है, वही मनुष्य पुनः मनुष्य भव को प्राप्त हो सकता है । क्योंकि जैसे कर्म वह करता है, उसी के अनुसार गति मिलती है ।

मूलः-वाला किड्डा य मंदा य, बला पन्ना य हायणी ।
पवंच्चा पभारा य, मुम्मुही सायणी तहा ॥३॥

छायाः-बाला क्रीडा च मन्दा च, बला प्रज्ञा च हायनी ।
प्रपञ्चा प्राग्भारा च मुन्मुखी शायिनी तथा ॥३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! मनुष्य की दश अवस्थाएँ हैं। प्रथम (बाला) बाल्यावस्था (य) और दूसरी (किड्डा) क्रीड़ावस्था (मंदा) तीसरी मन्दावस्था (बला) चौथी बलावस्था (य) और (पन्ना) पाँचवी प्रज्ञावस्था छट्ठी (हायणी) हायनी अवस्था तथा सातवीं (पवंचा) प्रपंचावस्था (य) और आठवीं (पब्भारा) प्राग्भारावस्था । नौवीं (मुंमुही) मुम्मुखी अवस्था (तहा) तथा मनुष्य की दशवीं अवस्था (सायणी) शायनी अवस्था होती है।

भावार्थः--हे गौतम ! जिस समय मनुष्य की जितनी आयु हो उतनी आयु का दश भागों में बाँटने से दश अवस्थाएँ होती है। जैसे सौ वर्ष की आयु हो तो दश वर्षों की एक अवस्था, यों दश दश वर्षों की दश अवस्थाएँ हैं। प्रथम बाल्यावस्था है कि जिस में खाना, पीना, कमाना, रूप आदि सुख दुख का प्रायः भान नहीं रहता है । दश वर्ष से बीस वर्ष तक खेलने कूदने की प्रायः धुन रहती है, इसलिये दूसरी अवस्था का नाम क्रीड़ावस्था है। बीस वर्ष से तीस वर्ष तक अपने गृह में जो काम भोगों की सामग्री जुटी हुई है उसी को भोगते रहना और नवीन अर्थ सम्पादन करने में प्रायः बुद्धि की मन्दता रहती है, इसी से तीसरी मन्दावस्था है। तीस से चालीस वर्ष पर्यंत यदि वह स्वस्थ रहे तो उस हालत में वह कुछ बली दिखलाई देता है, इसी से चौथी बलावस्था कही गयी है। चालीस से पचास वर्ष तक इच्छित अर्थ का सम्पादन करने के लिये तथा कुटुम्ब वृद्धि के लिए खूब बुद्धि का प्रयोग करता है, इसी से पाँचवीं प्रज्ञावस्था है। ५० से ६० वर्ष तक जिस में इन्द्रिय जन्य विषय ग्रहण करने में कुछ हीनता आजाती है इसी लिए छठी हायनी

अवस्था है। साठ से सत्तर वर्ष तक बार बार कफ निकलने, थूंकने और खांसने का प्रपंच बढ़ जाता है । इसी से सातवीं प्रपँचावस्था है। शरीर पर सलवट पड़ जाते हैं और शरीर भी कुछ झुक जाता है इसी से सत्तर से अस्सी वर्ष तक की अवस्था को प्राग्भार अवस्था कहते हैं । नौवीं अस्सी से नब्बे वर्ष तक मुम्मुखी अवस्था में जीव जरारूप राक्षसी से पूर्ण रूप से घिर जाता है। या तो इसी अवस्था में परलोक वासी बन बैठता है और यदि जीवित रहा तो एक मृतक के समान ही है। नब्बे से सौ वर्ष तक प्रायः दिन रात सोते रहना ही अच्छा लगता है। इसलिए दशवीं शायनी अवस्था कही जाती है।

मूलः-माणुस्सं विग्गहं लद्धु, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥ ४ ॥

छायाः-मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा श्रुति धर्मस्य दुर्लभा।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंस्रताम् ॥४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (माणुस्सं) मनुष्य के (विग्गहं) शरीर को (लद्धु) प्राप्त कर (धम्मस्स) धर्म का (सुई) श्रवण करना (दुल्लहा) दुर्लभ है । (जं) जिसको (सोच्चा) सुनने से (तवं) तप करने की (खंति-महिंसयं) तथा क्षमा और अहिंसा के पालन करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

भावार्थः-हे गौतम ! दुर्लभ मानव देह को पा भी लिया तो भी धार्मिक तत्त्व का श्रवण करना महान् दुर्लभ है। जिस

के सुनने से तप, क्षमा, अहिंसा आदि करने की प्रबल इच्छा जाग उठती है ।

मूलः-धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ ५ ॥

छायाः-धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टं, अहिंसा संयमस्तपः
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः॥५॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अहिंसा) जीव दया (संयम) यत्ना और (तवो) तप रूप (धम्मो) धर्म (उक्किट्ठं) सब से अधिक (मंगल) मंगल मय है । इस प्रकार के (धम्मे) धर्म में (जस्स) जिसका (सया) हमेशा (मणो) मन है, (तं) उसको(देवा वि) देवता भी(नमंसंति) नमस्कार करते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! किंचिन्मात्र भी जिस में हिंसा नहीं है, ऐसी अहिंसा, संयम और मन वचन काया के अशुभ योगों का घातक तथा पूर्वकृत पापों का नाश करने में अग्रसर ऐसा तप, ये ही जगत में प्रधान और मंगल मय धर्म के अंग हैं । बस एक मात्र इसी धर्म को हृदयंगम करने वाला मानव देवों से भी सदैव पूजित होता है, तो फिर मनुष्यों द्वारा वह पूज्य दृष्टि से देखा जाय इस में आश्चर्य ही क्या है ?

मूलः-मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा ।

साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ से पुप्फं च फलं रसो अ ॥६॥

छाया:-मूलात्स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य,
स्कन्धात् पश्चात् समुपयान्ति शाखाः ।
शाखाप्रशाखाभ्योविरोहन्ति पत्राणि,
ततस्तस्य पुष्पं च फलं रसश्च ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (दुमस्स) वृक्ष के (मूलाउ) मूल से (खंधप्पभवो) स्कन्ध अर्थात "पींड" पैदा होता है (पच्छा) पश्चात् (खंधाउ) स्कंधसे (साहा) शाखा (समुविंति) उत्पन्न होती है । और (साहप्पसाहा) शाखा प्रतिशाखा से (पत्ता) पत्ते (विरुहंति) पैदा होते हैं । (तओ) उसके बाद (से) वह वृक्ष (पुप्फं) फूलदार (च) और (फलं) फलदार (अ) और (रसो) रस वाला बनता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है । तदन्तर स्कन्ध से शाखा, टहनियाँ और उसके बाद पत्ते उत्पन्न होते हैं । अन्त में वह वृक्ष फूलदार फलदार व रस वाला होता है ।

मूलः-एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥

छाया:-एवं धर्मस्य विनयो मूलं परमस्तस्य मोक्षः।
येन कीर्त्ति श्रुतं शीघ्रं निश्शेषं चाभिगच्छति ॥७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एवं) इसी प्रकार (धम्म स्स) धर्म की (परमो) मुख्य (मूलं) जड़ (विणओ) विनय है। फिर उस से क्रमशः आगे (से) वह (मुक्खो) मुक्ति है। इसलिये पहले विनय आदरणीय है। (जेण) जिससे वह (कित्ति) कीर्ति को। (च) और (नीसेसं) सम्पूर्ण (सुयं) श्रुत ज्ञान को (सिग्घं) शीघ्र (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ के द्वारा क्रमपूर्वक रसवाला होता है। उसी प्रकार धर्म की जड़ विनय है। विनय के पश्चात् ही स्वर्ग, शुक्लध्यान,क्षपक श्रेणी आदि उत्तरोत्तर गुणों के साथ रसवान वृक्ष के समान आत्मा मुक्ति रूपी रस को प्राप्त कर लेती है। जब मूल ही नहीं है तो शाखा पत्ते फूल फल रस कहाँ से होंगे। ऐसे ही जब विनय धर्म रूप मूल ही नहीं हो तो मुक्ति का मिलना महान् कठिन है। हे गौतम ! सबों के लिए विनय आदरणीय है। विनय से कीर्ति फैलती है और विनयवान् शीघ्र ही सम्पूर्ण श्रुत ज्ञान को प्राप्त करलेता है।

मूलः—अणुसट्ठं पि बहुविहं,
मिच्छ दिट्ठिया जे नरा अबुद्धिया।
बद्धनिकाइयकम्मा,
सुणंति धम्मं न परं करेंति ॥ ८ ॥

छाया:-अनुशिष्टमपि बहुविधं,
मिथ्यादृष्टयो ये नरा अबुद्धयः ।
बद्धनिकाचितकर्माणः
शृण्वन्ति धर्मं न परं कुर्वन्ति ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (बहुविहं) अनेक प्रकार से (धम्मं) धर्म को (अणुसट्टंपि) शिक्षित गुरु के द्वारा सीखने पर भी (बद्धनिकाइयकम्मा) बँधे हैं निकाचित कर्म जिसके ऐसे (अबुद्धिया) बुद्धि रहित (मिच्छादिट्ठिया) मिथ्या दृष्टि (नरा) मनुष्य (जे) वे केवल (धम्मं) धर्म को (सुणंति) सुनते हैं (वरं) परन्तु (न) नहीं (करेंति) अनुकरण करते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! गृहस्थ धर्म और चारित्र धर्म को शिक्षित गुरु के द्वारा सुन लेने पर भी बुद्धि रहित मिथ्या दृष्टि मनुष्य केवल उन धर्मों को सुन कर ही रह जाते हैं। उनके अनुसार अपने कर्तव्य को नहीं बना सकते हैं। क्योंकि उनके प्रगाढ़-निकाचित कर्म का उदय होता है ।

मूलः-जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ।। ९ ।।

छायाः-जरा यावन्न पीडयति, व्याधिर्यावन्न वर्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते,तावद्धर्मं समाचरेत् ॥९॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जाव) जब तक (जार)

वृद्धावस्था (न) नहीं (पीडेइ) सताती और (जाव) जब तक (वाही) व्याधि (न) नहीं (वड्ढइ) बढ़ती और (जाविंदिया) जब तक इन्द्रियाँ (न) नहीं (हायंति) शिथिल होतीं (ताव) तब तक (धम्मं) धर्म का (समायरे) आचरण कर ले।

भावार्थः-हे गौतम! जब तक वृद्धावस्था नहीं सताती, धर्म घातक व्याधि की बढ़ती नहीं होती, निर्ग्रंथ प्रवचन सुनने में सहायक श्रोतेन्द्रिय तथा जीव दया पालन करने में सहायक चक्षु आदि इन्द्रियों की शिथिलता नहीं आ घेरती तब तक धर्म का आचरण बड़े ही दृढ़ता पूर्वक कर लेना चाहिए।

मूलः-जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स,अफला जंति राइओ ॥१०॥

छायाः-या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्त्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जा जा) जो जो (रयणी) रात्रि (वच्चई) जाती है (सा) वह रात्रि (न) नहीं (पडिनिअत्तइ) लौट कर आती है। अतः (अहम्मं)अधर्म (कुणमाणस्स) करने वाले की(राइओ) रात्रियाँ (अफला) निष्फल (जंति) जाती है।

भावार्थः-हे गौतम! जो जो रात और दिन बीत रहे

हैं वह समय पीछा लौट कर नहीं आ सकता। अतः ऐसे अमूल्य समय में मानव शरीर पाकर के भी जो अधर्म करता है, तो उस अधर्म करने वाले का समय निष्फल जाता है।

मूलः-जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥११॥

छायाः-या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्त्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जा जा) जो जो (रयणी) रात्रि (वच्चइ) निकलती है (सा) वह (न) नहीं (पडिनिअत्तइ) लौट कर आती है। अतः (धम्मं च) धर्म (कुणमाणस्स) करने वाले की (राइओ) रात्रियाँ (सफला) सफल (जंति) जाती हैं।

भावार्थः-हे गौतम! रात और दिन का जो समय जा रहा है। वह पुनः लौट कर किसी भी तरह नहीं आ सकता। ऐसा समझ कर जो धार्मिक जीवन विताते हैं उनका समय (जीवन) सफल है।

मूलः-सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ति व्व पावए ॥ १२ ॥

छायाः-शुद्धि ऋजुभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्त इव पावकः ॥१२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (उज्जुअभूयस्य) सरल स्वभावी का हृदय (सोही) शुद्ध होता है। उस (सुद्धस्य) शुद्ध हृदय वाले के पास (धम्मो) धर्म (चिट्ठइ) स्थिरता से रहता है। जिस से वह (परमं) प्रधान (णिव्वाणं) मोक्ष को (जाइ) जाता है। (व्व) जैसे (पावए) अग्नि में (घयसित्ति) घी सींचने पर अग्नि प्रदीप्त होती है। ऐसे ही आत्मा भी बलवती होती है।

भावार्थः-हे गौतम ! स्वभाव को सरल रखने से आत्मा कषायादि से रहित हो कर (शुद्ध) निर्मल हो जाती है। उस शुद्धात्मा के धर्म की भी स्थिरता रहती है। जिस से उसकी आत्मा जीवन मुक्त हो जाती है। जैसे अग्नि में घी डालने से वह चमक उठती है उसी तरह आत्मा के कषायादिक आवरण दूर हो जाने से वह भी अपने केवल ज्ञान के गुणों से देदीप्यमान हो उठती है।

मूलः—जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥१२॥

छायाः—जरामरणवेगेन वाह्यमानानाम् प्राणिनाम्।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥१२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जरामरणवेगेणं) जरा मृत्यु रूप जल के वेग से (वुज्झमाणाण) डूबते हुए (पाणिणं) प्राणियों को (धम्मो) धर्म (पइट्ठा) निश्चल आधार भूत (गई) स्थान (य) और (उत्तमं) प्रधान (शरणं) शरण रूप (दीवो) द्वीप है।

भावार्थः-हे गौतम ! जन्म जरा, मृत्यु रूप जल के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला धर्म ही निश्चल आधार भूत स्थान और उत्तम शरण रूप एक टापू के समान है ।

मूलः-एस धम्मे धुवे णितिए, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं, सिज्झिसंति तहावरे ॥१४॥

छायाः-एषो धर्मो ध्रुवो नित्यः शाश्वतो जिनदेशितः ।
सिद्धाः सिद्धयन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथाऽपरे ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जिणदेसिए) तीर्थंकरों के द्वारा कहा हुआ (एस) यह (धम्मे) धर्म (धुवे) ध्रुव है (णितिए) नित्य है (सासए) शाश्वत है (अणेणं) इस धर्म के द्वारा अनंत जीव भूतकाल में सिद्ध हुए हैं (च) और वर्तमान काल में (सिज्झंति) सिद्ध हो रहे हैं (तहा) उसी तरह (अवरे) भविष्यत काल में भी (सिज्झिसंति) सिद्ध होंगे ।

भावार्थः-हे गौतम ! पूर्ण ज्ञानियों के द्वारा कहा हुआ यह धर्म ध्रुव के समान है । तीन काल में नित्य है । शाश्वत् है । इसी धर्म को अङ्गीकार कर के अनंत जीव भूत काल में कर्मों के बँधन से मुक्त हो कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये है । वर्तमान काल में हो रहे है । और भविष्यत काल में भी इसी धर्म का सेवन करते हुए अनंत जीव मुक्ति को प्राप्त करेंगे ।

इति तृतीयोऽध्यायः

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(चौथा अध्याय)

आत्म शुद्धि के उपाय

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जा य वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥१॥

छायाः यथा नरका गच्छन्ति ये नरका या च वेदना नरके
शारीर मानसानि दुःखानि तिर्यग् योनौ ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (णरगा) नारकीय जीव (णरए) नरक में (गम्मंति) जाते हैं। (जे) वे (णरगा) नारकीय जीव (जा) नरक में उत्पन्न हुई (वेयणा) वेदना को सहन करते हैं। उसी तरह (तिरिक्ख जोणीए) तिर्यंच योनियों में जानेवाली आत्माएँ भी (सारीर-माणसाइं) शारीरिक, मानसिक (दुक्खाइं) दुखों को सहन करती हैं।

भावार्थः- हे गौतम ! जिस प्रकार नरक में जाने वाले जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक में होने वाली महान् वेदना को सहन करते हैं, उसी तरह तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने वाले आत्मा भी कर्मों के फल रूप में अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन करते हैं।

मूलः-माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए, देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥ २ ॥

छायाः-मानुष्यं चानित्यं व्याधिजरामरणवेदना प्रचुरम् ।
देवश्च देवलोको देवर्द्धिं देवसौख्यानि ॥ २॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (माणुस्सं) मनुष्य जन्म (अणिच्चं) अनित्य है (च) और वह (वाहिजरामरणवेयणापउरं) व्याधि, जरा, मरण, रूप प्रचुर वेदना से युक्त है (य) और (देवलोए) देव लोक में (देवे) देवपर्याय (देविड्ढिं) देव ऋद्धि और (देवसोक्खाइं) देवता संबंधी सुख भी अनित्य है।

भावार्थः--हे गौतम! मनुष्य जन्म अनित्य है। साथही जरामरण आदि व्याधि की प्रचुरता से भरा पड़ा है। और पुण्य उपार्जन कर जो स्वर्ग में गये हैं, वे वहाँ अपनी देव ऋद्धि और देवता संबंधी सुखों को भोगते हैं। परन्तु आखिर वे भी वहां से चवते हैं।

मूलः- णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च।
सिद्धे अ सिद्धवसहिं, छज्जीवणियं परिकहेइ ॥३॥

छाया:-नरकं तिर्यग्योनिं मानुष्यभवं देवलोकं च।
सिद्धश्च सिद्धवसतिं षट्जीवनिकायं परिकथति ॥३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! जो जीव पाप कर्म करते हैं, वे (णरगं) नरक को और (तिरिक्खजोणिं) तिर्यंच योनि को प्राप्त होते हैं। और जो पुण्य उपार्जन करते हैं, वे (माणुसभावं) मनुष्य भव को (च) और (देवलोगं) देवलोक को जाते हैं, (अ) और जो (छज्जीवणियं) षट् काय के जीवों की रक्षा करते हैं, वह (सिद्धवसहिं) सिद्धावस्था को प्राप्त करके अर्थात् सिद्धि गति में जाकर (सिद्धे) सिद्ध होते हैं। ऐसा सभी तीर्थंकरों ने (परिकहेइ) कहा है।

भावार्थः-हे आर्य! जो आत्मा पाप कर्म उपार्जन करते हैं, वे नरक और तिर्यंच योनियों में जन्म लेते हैं। जो पुण्य उपार्जन करते हैं, वे मनुष्य-जन्म एवं देव-गति में जाते हैं। और जो पृथ्वी, अप, तेज वायु तथा वनस्पति के जीवों की तथा हिलते फिरते त्रस जीवों की सम्पूर्ण रक्षा कर अष्ट कर्मों को चूर चूर कर देने में समर्थ होते हैं, वे आत्मा सिद्धालय में सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

मूलः-जह जीवा बज्झंति,
मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं,
करेंति केई अपडिबद्धा ॥४॥

छाया:-यथा जीवा बध्यन्ते,
मुच्यन्ते यथा च परिक्लिश्यन्ते ।
यथा दुःखानामन्तं कुर्वन्ति
केऽपि अप्रतिबद्धाः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (केई) कई (जीवा) जीव (बज्झंति) कर्मों से बँधते हैं, वैसे ही (मुच्चंति) मुक्त भी होते हैं (य) और (जह) जैसे कर्मों की वृद्धि होने से (परिकिलिस्संति) महान् कष्ट पाते हैं। वैसे ही (दुक्खाण) दुखों का (अंत) अन्त भी (करेंति) कर डालते हैं। ऐसा (अपडिबद्धा) अप्रतिबन्ध विहारी निर्ग्रन्थों ने कहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! यही आत्मा कर्मों को बाँधता है, और यही कर्मों से मुक्त भी होता है । यही आत्मा कर्मों का गाढ़ लेप करके दुखी होता है, और सदाचार सेवन से सम्पूर्ण कर्मों को नाश करके मुक्ति के सुखों का सोपान भी यही आत्मा तैयार करता है। ऐसा निर्ग्रन्थों का प्रवचन है।

मूलः-अट्टदुहट्टियचित्ता जह, जीवा दुक्खसागर मुवेंति ।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥५॥

छायाः-आर्त्तदुःखार्त्त चित्ता यथा जीवा,
दुःजीवा दुःखसागरमुपयान्ति ।
यथा वैराग्यमुपगता,
कर्मसमुद्गं विघाटयन्ति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! जो (जीवा) जीव वैराग्य भाव से रहित हैं वे (अट्टदुहट्टिय चित्ता) आर्त्त रौद्र ध्यान से युक्त चित्त वाले हो (जह) जैसे (दुक्खसागरं) दुख सागर को (उवेंति) प्राप्त होते हैं। वैसे ही (वेरग्गं) वैराग्य को (उवगया) प्राप्त हुए जीव (कम्मसमुग्गं) कर्म समूह को (विहाडेंति) नष्ट कर डालते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जो आत्मा वैराग्य अवस्था को प्राप्त नहीं हुये हैं, सांसारिक भोगों में फंसे हुये हैं, वे आर्त्त रौद्र ध्यान को ध्याते हुये मानसिक कुभावनाओं के द्वारा अनिष्ट कर्मों को संचय करते हैं ! और जन्म जन्मान्तर के लिये दुख सागर में गोता लगाते हैं। जिन आत्माओं की रग-रग में वैराग्य रस भरा पड़ा है, वे सदाचार के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को बात की बात में नष्ट कर डालते हैं।

मूलः-जह रागेण कडाणं कम्माणं, पावगो फलविवागो।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति॥६॥

छायाः यथा रागेण कृतानां कर्मणाम्,
पापकःफलविपाकः।
यथा च परिहीणकर्मा,
सिद्धाःसिद्धालयमुपयान्ति॥६॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे यह जीव (रागेण) राग द्वेष के द्वारा (कडाणं) किये हुए (पावगो)

पाप (कम्माणं) कर्मों के (फलविवागो) फलोदय को भोगता है। वैसे ही शुभ कर्मों के द्वारा (परिहीणकम्मा) कर्मों को नष्ट करने वाले जीव (सिद्धा) सिद्ध होकर (सिद्धालयं) सिद्धस्थान को (उवेंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार यह आत्मा राग द्वेष करके कर्म उपार्जन कर लेता है और उन कर्मों के उदय काल में फल भी उनका चखता है वैसे ही सदाचारों से जन्म जन्मांतरों के कृत कर्मों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर डालता है। और फिर वही सिद्ध हो कर सिद्धालय को भी प्राप्त हो जाता है।

मूलः—आलोयण निरवलावे, आवईसु दढ्ढधम्मया।
अणिस्सिओवहाणे य,सिक्खा निप्पडिकम्मया॥७॥

छायाः—आलोचना निरपलापा,आपत्तौ सुदृढ धर्मता।
अनिश्रितोपधानश्च,शिक्षा निःप्रतिकर्मता॥७॥

दण्डान्वयः—हे इन्द्रभूति ! (आलोयण) आलोचना करना (निरवलावे) की हुई आलोचना अन्य के सम्मुख नहीं करना (आवईसु)आपदा आने पर भी(दढ्ढधम्मया) धर्म में दृढ रहना(अणिस्सिओवहाणे) विना किसी चाह के उपधान तप करना (सिक्खा) शिक्षा ग्रहण करना (य) और (निप्पडिकम्मया) शरीर की शुश्रूषा नहीं करना।

भावार्थः—हे गौतम ! जानते में या अजानते में किसी

भी प्रकार दोषों का सेवन कर लिया हो, तो उसको अपने आचार्य के सम्मुख प्रकट करना और आचार्य उसके प्रायश्चित रूप में जो भी दण्ड दें उसे सहर्ष ग्रहण कर लेना, अपनी श्रेष्ठता बताने के लिए पुनः उस बात को दूसरों के सम्मुख नहीं कहना और अनेक आपदाओं के बादल क्यों न उमड़ आवें मगर धर्म से एक पैर भी पीछे न हटना चाहिए। ऐहिक और पारलौकिक पौद्गलिक सुखों की इच्छा रहित उपधान तप व्रत करना, सूत्रार्थ ग्रहण रूप शिक्षा धारण करना, और कामभोगों के निमित्त शरीर की शुश्रूषा भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

मूलः-अण्णायया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥८॥

छायाः-अज्ञातता अलोभश्च, तितिक्षा आर्जवः शुचिः।
सम्यग्दृष्टिः समाधिश्च आचारोविनयोपेतः ॥८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अण्णायया) दूसरों को कहे विना ही तप करना (अलोभे) लोभ नहीं करना (तितिक्खा) परिषहों को सहन करना (अज्जवे)निष्कपट रहना (सुई) सत्य से शुचिता रखना (सम्मदिट्ठी) श्रद्धा को शुद्ध रखना (य) और (समाही) स्वस्थ चित्त रहना (आयारे) सदाचारी हो कर कपट न करना (विणओवए) विनयी हो कर कपट न करना।

भावार्थः-हे गौतम! तप व्रत धारण करके यश के

लिए दूसरों को न कहना, इच्छित वस्तु पाकर उस पर लोभ न करना, दंश मशकादिकों का परिषह उत्पन्न हो तो उसे सहर्ष सहन करना, निष्कपटता पूर्वक अपना सारा व्यवहार रखना, सत्य संयमद्वारा शुचिता रखना, श्रद्धा में विपरीतता न आने देना, स्वस्थ चित्त हो कर अपना जीवन बिताना, आचारवान हो कर कपट न करना और विनयी होना।

मूलः-धिईमई य संवेगे, पणिहि सुविहि संवरे ।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकामविरत्तया ॥ ६ ॥

छायाः-धृतिमतिश्च संवेगः प्रणिधिः सुविधिःसंवर ।
आत्म दोषापसंहारः सर्वकामविरक्तता ॥ ६ ॥

दण्डान्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (धिईमई) अदीन वृति से रहना, (संवेगे) संसार से विरक्त हो कर रहना, (पणिहि) कायादि के अशुभ योगों को रोकना, (सुविहि) सदाचार का सेवन करना । (संवरे) पापों के कारणों को रोकना, (अत्तदोसोवसंहारे) अपनी आत्मा के दोषों का संहार करना, (य) और (सव्वकामविरत्तया), सर्व काम‑नाओं से विरत रहना ।

भावार्थः--हे गौतम ! दीन हीन वृत्ति से सदा विमुख रहना, संसार के विषयों से उदासीन हो कर मोक्ष की इच्छा को हृदय में धारण करना, मन वचन काया के अशुभ व्यापारों को रोक रखना, सदाचार सेवन में रत रहना, हिंसा, झूठ, चोरी, संग, ममत्व के द्वारा आते हुए पापों को रोकना,

आत्मा के दोषों को ढूँढ ढूँढ कर संहार करना, और सर्व तरह की इच्छाओं से अलग रहना।

मूलः-पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमादे लवालवे।
झाणसंवरजोगे य, उदए मारणंतिए ॥ १० ॥

छायाः- प्रत्याख्यानं व्युत्सर्गः, अप्रमादो लवालवः।
ध्यानसंवर योगाश्च, उदये मारणान्तिके ॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूते! (पच्चक्खाणे) त्यागों की वृद्धि करना (विउस्सग्गे) उपाधि से रहित होना, (अप्पमादे) प्रमाद रहित रहना (लवालवे) अनुष्ठान करते रहना (झाणं) ध्यान करना (संवरजोगे) सम्वर का व्यापार करना, (य) और (मारणंतिए) मारणांतिक कष्ट (उदए) उदय होने पर भी क्षोभ नहीं करना।

भावार्थः-हे गौतम! त्याग धर्म की वृद्धि करते रहना, उपाधि से रहित होना, गर्व का परित्याग करना, क्षण मात्र के लिए भी प्रमाद न करना, सदैव अनुष्ठान करते रहना, सिद्धान्तों के गंभीर आशयों पर विचार करते रहना, कर्मों के निरोध रूप संवर की प्राप्ति करना और मृत्यु भी यदि सामने आखड़ी हो तब भी क्षोभ न करना।

मूलः-संगाणं य परिण्णाया, पायच्छित्त करणे वि य।
आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥११॥

छाया:-सङ्गानाञ्च परिज्ञया प्रायश्चित्तकरणमपि च ।
आराधना च मरणान्ते, द्वात्रिंशतिःयोग संग्रहाः ॥११॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (संगाणं) संभोगों के परिणाम को (परिण्णाया) जान कर उनका त्याग करना (य) और (पायच्छित्त करणे) प्रायश्चित करना (आराहणा य मरणंते) आराधिक हो समाधि मरण से मरना, ये (बत्तीसं) बत्तीस (जोगसंगहा) योग संग्रह हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! स्वजनादि संग रूप स्नेह के परिणाम को समझ कर उसका परित्याग करना । भूल से गलती हो जावे तो उसके लिए प्रायश्चित करना, संयमी जीवन को सार्थक कर समाधि से मृत्यु लेना, ये बत्तीस शिक्षाएँ योग-बल को बढ़ानेवाली हैं। अतः इन बत्तीस शिक्षाओं का अपने जीवन के साथ संबंध कर लेना मानो मुक्ति को वर लेना है।

मूलः-अरहंतसिद्धपवयणगुरूथेरबहुस्सुएतवस्सीसु ।
वच्छल्लया यसिं अभिक्खणाणोवओगे य ॥१२॥

छाया:-अर्हत्सिद्ध प्रवचनगुरूस्थाविर
बहुश्रुतेषु तपस्विषु ।
वत्सलता तेषां अभीक्ष्णं
ज्ञानोपयोगश्च ॥ १२ ॥

दण्डान्वयः-हे इन्द्रभूति ! (अरहंत) तीर्थंकर (सिद्ध) सिद्ध (पवयण) आगम (गुरू) गुरू महाराज (थेर) स्थविर (बहुस्सुए) बहु श्रुत (तवस्सीसु) तपस्वी में (वच्छलया) वात्सल्य भाव रखता हो, (यासिं) उन का गुण कीर्तन करता हो, (य) और (अभिक्ख) सदैव (णाणोवओगे ज्ञान में जो उपयोग रक्खे।

भावार्थः-हे गौतम ! जो रागादि दोषों से रहित हैं, जिन्होंने घनघाती कर्मों को जीत लिया है, वे अरिहंत हैं। जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों को जीत लिया है, वे सिद्ध हैं। अहिंसामय सिद्धान्त और पँच महाव्रतों को पालने वाले गुरु हैं। इनमें और स्थविर, बहुश्रुत, तपस्वी इन सभी में वात्सल्य भाव रखता हो, इन के गुणों का हर जगह प्रसार करता हो और इसी तरह ज्ञान के ध्यान में सदा लीन रहता हो।

मूलः-दंसणविणए आवस्सए य, सीलव्वए निरइयारो।
खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥१३॥

छायाः-दर्शनविनय आवश्यकः शीलव्रतं निरतिचारं।
क्षणलवस्तपस्त्यागः वैयावृत्यं समाधिश्च ॥१३॥

दण्डान्वयः-हे इन्द्रभूति ! (दंसण) शुद्ध श्रद्धा रखता हो (विणए) विनयी हो (आवस्सए) आश्यक-प्रतिक्रमण दोनों समय करता हो, (निरइयारो) दोष रहित

(सीलव्वए) शील और व्रत को जो पालता हो, (खणलव) अच्छा ध्यान ध्याता हो अर्थात् सुपात्र को दान देने की भावना रखता हो (तव) तप करता हो (च्चियाए) त्याग करता हो, (वेयावच्चे) सेवा भाव रखता हो (य) और (समाही) स्वस्थ चित्त से रहता हो ।

भावार्थः-हे गौतम ! जो शुद्ध श्रद्धा का अवलम्बी हो, नम्रता ने जिस के हृदय में निवास कर लिया हो, दोनों समय साँझ और सुबह अपने पापों की आलोचन रूप प्रतिक्रमण को जो करता हो, निर्दोष शील व्रत को जो पालता हो, आर्त्त रौद्र ध्यान को अपनी ओर झाँकने तक न देता हो. अनशन व्रत का जो व्रती हो, या नियमित रूप से कम खाता हो, मिष्टान्न आदि का परित्याग करता हो, आदि इन बारह प्रकार के तपों में से कोई भी तप जो करता हो, सुपात्र दान देता हो, जो सेवा भाव में अपना शरीर अर्पण कर चुका हो, और सदैव चिन्ता रहित जो रहता हो ।

मूलः—अप्पुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणाया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीओ ॥१४॥

छायाः-अपूर्वज्ञानग्रहणं, श्रुतभक्तिः प्रवचनप्रभावनया ।
एतैः कारणैस्तीर्थकरत्वं लभते जीवः ॥ १४ ॥

दण्डान्वयः-हे इन्द्रभूति ! जो (अप्पुव्वणाणगहणे) अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करता हो (सुयभत्ती) सूत्र शास्त्रों को आदर की दृष्टि से देखता हो, (पवयणे) निर्ग्रन्थ प्रवचन की

(पभावणया) प्रभावना करता हो, (एएहिं) इन (कारणेहिं) सम्पूर्ण कारणों से (जीओ) जीव (तित्थयरत्तं) तीर्थंकरत्व को (लहइ) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थः-हे आर्य ! आये दिन कुछ न कुछ नवीन ज्ञान को जो ग्रहण करता रहता हो, सूत्र के सिद्धान्तों को आदर भावों से जो अपनाता हो, जिन शासन की प्रभावना उन्नति के लिए नये नये उपाय जो ढूँढ निकालता हो, इन्हीं कारणों में से किसी एक बात का भी प्रगाढ रूप से सेवन जो करता हो, वह फिर चाहे किसी भी जाति व कौम का क्यों न हो, भविष्य में तिर्थंकर होता है।

मूलः-पाणाइवायमलियं, चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं।
कोहं माणं मायं, लोभं पेज्जं तहा दोसं ॥१५॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइअरइसमाउत्तं।
परपरिवायं माया, मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥१६॥

छायाः-प्राणातिपातमलीकं चौर्यं मैथुनं द्रव्यमूर्च्छाम्।
क्रोधं मानं मायां लोभं प्रेम तथा द्वेषम् ॥१५॥
कलहमभ्याख्यानं पैशून्यं रत्यरती सम्युक्तम्।
परपरिवादं मायामृषा मिथ्यात्वशल्यं च ॥१६॥

दण्डान्वयः-हे इन्द्रभूति ! (पाणाइवायं) प्राणातिपात-हिंसा (अलियं) झूठ (चोरिक्कं) चोरी (मेहुणं) मैथुन (दवियमुच्छं) द्रव्य में मूर्छा (कोहं) क्रोध (माणं)

मान (मायं) माया (लोभं) लोभ (पेज्जं) राग (तहा) तथा (दोसं) द्वेष (कलहं) लड़ाई (अब्भक्खाणं) कलंक (पेसुन्नं) चुगली (परपरिवायं) परापवाद (रइअरइ) अधर्म में आनंद और धर्म में अप्रसन्नता (मायमोस) कपट युक्त झूँठ (चं) और (मिच्छत्तसल्लं) मिथ्यात्व रूप शल्य, इस प्रकार अठारह पापों का स्वरूप ज्ञानियों ने (समाउत्तं) अच्छी तरह कहा है ।

भावार्थः—हे गौतम ! प्राणियों के दश प्राणों में से किसी भी प्राण को हनन करना, मन वचन, काया से दूसरों के मन तक को भी दुखाना, हिंसा है । इस हिंसा से यह आत्मा मलीन होता है । इसी तरह झूँठ बोलने से, चोरी करने से, मैथुन सेवन से, वस्तु पर मूर्छा रखने से, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, करने से, और परस्पर लड़ाई-झगड़ा करने से, किसी निर्दोषी पर कलंक का आरोप करने से, किसी की चुगली खाने से, दूसरों के अवगुणवाद बोलने से, और इसी तरह अधर्म में प्रसन्नता रखने से और धर्म में अप्रसन्नता दिखाने से, दूसरों को ठगने के लिए कपट पूर्वक झूँठ का व्यवहार करने से, और मिथ्यात्व रूप शल्य के द्वारा पीड़ित रहने से, अर्थात् कुदेव कुगुरू कुधर्म के मानने से, आदि इन्हीं अठारह प्रकार के पापों से जकड़ी हुई यह आत्मा नाना प्रकार के दुःख उठाती हुई, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करती रहती है ।

मूलः—अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाते ।
फासे आणापाणू, सत्तविहं झिज्झए आउं ॥१७॥

छाया:-अध्यवसाननिमित्ते आहारःवेदना पराघातः।
स्पर्श आनप्राणः सप्तविधं क्षियते आयु ॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति (आउं) आयु (सत्तविहं) सात प्रकार से (झिज्झए) टूटता है। (अज्झवसाणनिमित्ते) भयात्मक अध्यवसाय और दण्ड लकड़ी-कशा चाबुक शस्त्र आदि निमित्त, (आहारे) अधिक आहार (वेयणा) शारीरिक वेदना (पराघाते) खड्डे आदि में गिरने के निमित्त (फासे) सर्पादिक का स्पर्श (आणपाणू) उच्छ्वास निश्वास का रोकना आदि कारणों से आयु का क्षय होता है।

भावार्थः-हे आर्य! सात कारणों से आयु अकाल में ही क्षीण होती है। वे यों हैं:—राग, स्नेह,भय पूर्वक अध्यवसाय के आने से, दंड (लकड़ी) कशा (चाबुक) शस्त्र आदि के प्रयोग से, अधिक भोजन खा लेने से, नेत्र आदि की अधिक व्याधि होने से, खड्डे आदि में गिर जाने से, और उच्छ्वास निश्वास के रोक देने से।

मूलः—जह मिउलेवालित्तं, गरुयं तुबं अहो वयइ एवं।
आसवकयकम्मगुरू,जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१८॥

छाया:-यथा मृल्लेपालिप्तं गुरुं तुम्बं अधोव्रजत्येवं।
आश्रवकायकर्मगुरवो जीवा व्रजन्त्यधोगतिम् ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जह)जैसे (मिउलेवालित्तं) मिट्टी के लेपसे लिपटा हुआ वह (गरुयं) भारी (तुबं) तूँबा

(अहो) नीचा (वयइ) जाता है। (एवं) इसी तरह (आसवकयकम्मगुरू) आश्रव कृत कर्मों द्वारा भारी हुआ (जीवा) जीव (अहरगइं) अधोगति को (वच्चंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे मिट्टी का लेप लगने से तूँवा भारी हो जाता है, अगर उसको पानी पर रख दिया जाय तो वह उस की तह तक नीचा ही चला जायगा ऊपर नहीं उठेगा। इसी तरह हिंसा झूठ चोरी, मैथुन और मूर्छा आदि आश्रव-रूप कर्म कर लेने से, यह आत्मा भी भारी हो जाता है। और यही कारण है कि तब यह आत्मा अधोगति को अपना स्थान बना लेता है।

मूलः-तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्टिया होंति ॥१६॥

छायाः-स चैव तद्विमुक्तःजलोपरि तिष्ठति जातलघुभावः।
यथा तथा कर्मविमुक्ता लोकाग्रप्रतिष्ठिता भवन्ति ।१६।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (तं चेव) वही तूँवा (तव्विमुक्कं) उस मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर (जायलहुभावं) हलका हो जाता है, तब (जलोवरिं)जल के ऊपर (ठाइ) ठहरा रह सकता है । (तह) उसी प्रकार (कम्मविमुक्का) कर्म से मुक्त हुए जीव (लोयग्गपइट्टिया) लोक के अग्रभाग पर स्थित (होंति) होते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर वही तूँवा जैसे पानी के ऊपर आ जाता है, वैसे ही आत्मा

भी कर्म रूपी बन्धनों से सम्पूर्ण प्रकार से मुक्त हो जाने पर लोक के अग्र भाग पर जाकर स्थित हो जाता है। फिर इस दुःखमय संसार में उसको चक्कर नहीं लगाना पड़ता।

॥ श्रीगौतमउवाच ॥

मूलः-कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहं आसे ? कहं सए।
कहं भुंजतो ? भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥२०॥

छायाः-कथञ्चरेत् ? कथं तिष्ठेत्? कथमासीत् कथं शयीत्।
कथं भुञ्जानो भाषमाणःपापं कर्म न बध्नाति ॥२०॥

अन्वयार्थः-हे प्रभु ! (कहं) कैसे (चरे) चलना ? (कहं) कैसे (चिट्ठे) ठहरना ? (कहं) कैसे (आसे) बैठना ? (कहं) कैसे (सए) सोना ? जिससे (पावं) पाप (कम्मं) कर्म (न) न (बंधइ) बँधते, और (कहं) किस प्रकार (भुंजतो) खाते हुए, एवं (भासंतो) बोलते हुए पाप कर्म नहीं बँधते।

भावार्थः-हे प्रभु ! कृपा करके इस सेवक के लिए फरमावें कि किस तरह चलना, खड़े रहना, बैठना, सोना खाना, और बोलना चाहिए जिस से इस आत्मा पर पाप कर्मों का लेप न चढ़ने पावे।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे जयं सए।
जयं भुंजतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ॥२१॥

छाया: यतं चरेत् यतं तिष्ठेत् यतमासीत् यतं शयीत् ।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ॥२१॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जयं) यत्ना पूर्वक (चरे) चलना (जयं) यत्ना पूर्वक (चिट्ठे) ठहरना (जयं) यत्ना पूर्वक (आसे) बैठना (जयं) यत्ना पूर्वक (सए) सोना, जिससे (पावं) पाप (कम्मं) कर्म (न) नहीं (बंधइ) बंधता है । इसी तरह (जयं) यत्ना पूर्वक (भुंजंतो) खाते हुए (भासंतो) और बोलते हुए भी पाप कर्म नहीं बँधते ।

भावार्थः–हे गौतम ! हिंसा, झूँठ, चोरी, आदि का जिस में तनिक भी व्यापार न हो ऐसी सावधानी को यत्ना कहते हैं । यत्ना पूर्वक चलने से, खड़े रहने से, बैठने से और सोने से पाप कर्मों का बँधन इस आत्मा पर नहीं होता है । इसी तरह यत्ना पूर्वक भोजन करते हुए और बोलते हुए भी पाप कर्मों का बँध नहीं होता है। अतएव, हे आर्य ! तू अपनी दिन-चर्या को खूब ही सावधानी पूर्वक बना, जिस से आत्मा अपने कर्मों के द्वारा भारी न हो ।

मूलः–पच्छा वि ते पयाया
खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पियो तवो संजमो
य खंती य बम्भचेरं च ॥२२॥

छाया:-पश्चादपि ते प्रयाताः
क्षिप्रं गच्छन्त्यमर भवनानि।
येषां प्रियं तपः संयमश्च
शान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (पच्छा वि) पीछे भी अर्थात् वृद्धावस्था में (ते) वे मनुष्य (पयाया) सन्मार्ग को प्राप्त हुए हों (य) और (जेसिं) जिस को (तवो) तप (संजमो) संयम (य) और (खंती) क्षमा (च) और (बम्भचेरं) ब्रह्मचर्य (पियो) प्रिय है, वे (खिप्पं) शीघ्र (अमरभवणाइं) देव-भवनों को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे आर्य! जो धर्म की उपेक्षा करते हुए वृद्धावस्था तक पहुंच गये हैं उन्हें भी हताश न होना चाहिए। अगर उस अवस्था में भी वे सदाचार को प्राप्त हो जाँय, और तप, संयम, क्षमा, ब्रह्मचर्य को अपना लाड़ला साथी बना लें, तो वे लोग देवलोक को प्राप्त हो सकते हैं।

मूलः-तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजम जोगसंती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥२३॥

छाया:-तपो ज्योतिर्जीवोज्योतिः स्थानं
योगाः स्रुचः शरीरं करीषाङ्गम्।

कर्मैधाः संयमयोगाः शान्तिर्होमेन
जुहोम्यृषिणा प्रशस्तेन ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (तवो) तप रूप तो (जोई) अग्नि (जीवो) जीव रूप (जोइठाणं) अग्नि का स्थान (जोगा) योग रूप (सुया) कड़छी (सरीरं) शरीर रूप (कारिसंगं) कण्डे (कम्मेहा) कर्म रूप ईंधन-काष्ट (संजम जोग) संयम व्यापार रूप (संती) शांति-पाठ है। इस प्रकार का (इसिणं) ऋषियों से (पसत्थं) श्लाघनीय चारित्र रूप (होमं) होम को (हुणामि) करता हूं।

भावार्थः-हे गौतम ! तप रूप जो अग्नि है, वह कर्म रूप ईंधन को भस्म करती है। जीव अग्नि का कुण्ड है। क्योंकि तप रूप अग्नि जीव संबंधिनी ही है एतदर्थ, जीव ही अग्नि रखने का कुण्ड हुआ। जिस प्रकार कुड़छी से घी आदि पदार्थों को डाल कर अग्नि को प्रदीप्त करते हैं ठीक उसी प्रकार मन वचन और काया के शुभ व्यापारों के द्वारा तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। परन्तु शरीर के विना तप नहीं हो सकता हैं। इसीलिये शरीर रूप कण्डे, कर्म रूप ईंधन और संयम व्यापार रुप शान्ति पाठ पढ़ करके, मैं इस प्रकार ऋषियों के द्वारा प्रशंसनीय चारित्र साधन रूप यज्ञ को प्रतिदिन करता रहता हूँ।

मूलः-धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।

जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीतिभूओ पजहामि दोसं ॥२४॥

छाया:-धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थ-
मनाविल आत्मप्रसन्नलेश्यः
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः
सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥२४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अणाविले) मिथ्यात्व करके रहित स्वच्छ (अत्तपसन्नलेसे) आत्मा के लिए प्रशं-सनीय और अच्छी भावनाओं को उत्पन्न करने वाला ऐसा जो (धम्मे) धर्म रूप (हरए) द्रह और (बंभे) ब्रह्मचर्य रूप (संतितित्थे) शान्तितीर्थ है। (जहिं) उस में (सिणहाओ) स्नान करने से तथा उस तीर्थ में आत्मा के पर्यटन करते रहने से (विमलो) निर्मल (विसुद्धो) शुद्ध और (सुसीतिभूओ) राग द्वेपादि से रहित वह हो जाता है । उसी तरह मैं भी उस द्रह और तीर्थ का सेवन करके (दोसं) अपनी आत्मा को दूषित करे, उस कर्म को (पजहामि) अत्यन्त दूर करता हूँ ।

भावार्थः-हे आर्य ! मिथ्यात्वादि पापों से रहित और आत्मा के लिए प्रशंसनीय एवं उच्च भावनाओं को प्रकट करने में सहाय्य भूत ऐसा जो स्वच्छ धर्म रूप द्रह है उस में इस आत्मा को स्नान कराने से, तथा ब्रह्मचर्य रूप शान्ति-तीर्थ की यात्रा करने से शुद्ध निर्मल और रागद्वेपादि से रहित यह हो जाता है। अतः मैं भी धर्म रूप द्रह और

ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ का सेवन करके आत्मा को दूषित करने वाले अशुभ कर्मों को साँगोपाँग नष्ट कर रहा हूँ । बस, यह आत्मा शुद्धि का स्नान और उसकी तीर्थ-यात्रा है ।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥



* ॐ *

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय पाँचवा)

ज्ञान प्रकरण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः-तत्थ पंचविहं नाणं, सुअं अभिणिबोहिअं ।
ओहिणाणं च तइअं, मणणाणं च केवलं ॥१॥

छायाः-तत्र पञ्चविधं ज्ञानं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥१॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति (तत्थ) ज्ञान के सम्बन्ध में (नाणं) ज्ञान (पंचविहं) पांच प्रकार का है, वह यों है। (सुअं) श्रुत (आभिणिबोहिअं) मति (तइअं) तीसरा (ओहिणाणं) अवधि ज्ञान (च) और (मणणाणं) मनः पर्यय ज्ञान (च) और पाँचवाँ (केवलं) केवल ज्ञान है।

भावार्थः-हे आर्य ! ज्ञान पांच प्रकार का होता है, वे पांच प्रकार यों हैं:--(१) मति ज्ञान के द्वारा श्रवण करते रहने से पदार्थ का जो स्पष्ट भेदाभेद ज्ञात पड़ता है वह

श्रुत ज्ञान[1] है। (२) पांचों इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञात होता है' वह मतिज्ञान कहलाता है (३) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की मर्यादा पूर्वक रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानना यह अवधिज्ञान है। (४) दूसरों के हृदय में स्थित भावों को प्रत्यक्ष रूप से जान लेना मनः पर्यव ज्ञान है। और (५) त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तरेखावत् जान लेना केवल ज्ञान कहलाता है।

मूलः-अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णात्तिकारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं ॥ २ ॥

छायाः--अथ सर्वद्रव्यपरिणाम
भावविज्ञप्ति कारणमनन्तम् ।
शाश्वतमप्रतिपाति च,
एकविधं केवलं ज्ञानम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (केवलं) केवल्य (नाणं) ज्ञान (एगविहं) एक प्रकार का है। (सव्वदव्वपरिणाम

(१) नंदी सूत्र में श्रुत-ज्ञान का दूसरा नम्बर है। परन्तु उत्तराध्ययनजी सूत्र में श्रुत ज्ञान को पहला नम्बर दिया गया है। इस का तात्पर्य यों है कि पाचों ज्ञानों में श्रुत-ज्ञान विशेष उपकारी है। इसलिए यहां श्रुत-ज्ञान को पहले ग्रहण किया है।

भावविएणत्तिकारणं) सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति, ध्रौव्य, नाश और उनके गुणों का विज्ञान. कराने में कारण भूत है । इसी प्रकार (अणंतं) ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा से अनंत है, एवं (सासयं) शाश्वत और (अप्पडियाई) अप्रातिपाती है ।

भावार्थः-हे गौतम ! कैवल्य ज्ञान का एक ही भेद है। और वह सर्व द्रव्य मात्र के उत्पत्ति. विनाश, ध्रुवता और उनके गुणों एवं पारस्परिक पदार्थों की भिन्नता का विज्ञान कराने में कारणभूत है । इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ अनंत होने से इसे अनंत भी कहते हैं और यह शाश्वत भी है । कैवल्य ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् पुनः नष्ट नहीं होता है। इसलिए यह अप्रातिपाती भी है ।

मूलः-एयं पंचविहं णाणं, दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ॥२॥

छायाः-एतत् पञ्चविधं ज्ञानम्,द्रव्याणाम् च गुणाणांच
पर्यवाणां च सर्वेषां, ज्ञानं ज्ञानिभिर्दर्शितम् ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एयं) यह (पंचविहं) पाँच प्रकार का (नाणं) ज्ञान (सव्वेसिं) सर्व (दव्वाणं) द्रव्य (य) और (गुणाण) गुण (य) और (पज्जवाणं) पर्यायों को (नाणं) जानने वाला है. ऐसा (नाणीहि) तीर्थंकरों द्वारा (देसियं) कहा गया है ।

भावार्थः-हे गौतम ! संसार में ऐसा कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय नहीं है जो इन पांच ज्ञानों से न जानी जा

सके । प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ यथायोग्य रूप से किसी न किसी ज्ञान का विषय होता ही है । ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है ।

मूलः—पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किं वा, नाहिइ छेयपावगं ॥४॥

छायाः-प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्व संयतः ।
अज्ञानी किं करिष्यति, किं वा ज्ञास्यति श्रेयःपापकम् ४

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पढमं) पहले (णाणं) ज्ञान (तओ) फिर (दया) जीव रक्षा (एवं) इस प्रकार (सव्वसंजए) सब साधु (चिट्ठइ) रहते हैं । (अन्नाणी) अज्ञानी (किं) क्या (काही) क्या करेगा ? (वा) और (किं) कैसे वह अज्ञानी (छेय पावगं) श्रेयस्कर और पापमय मार्ग को (नाहिइ) जानेगा ?

भावार्थः-हे गौतम ! पहले जीव रक्षा संबंधी ज्ञान की आवश्यकता है । क्योंकि, बिना ज्ञान के जीव-रक्षा रूप क्रिया का पालन किसी भी प्रकार हो नहीं सकता, पहले ज्ञान होता है, फिर उस विषय में प्रवृत्ति होती है । संयम शील जीवन बिताने वाला मानव वर्ग भी पहले ज्ञान ही का सम्पादन करता है. फिर जीव रक्षा के लिए कटिबद्ध होता है । सच है. जिन को कुछ भी ज्ञान नहीं है, वे क्या तो दया का पालन करेंगे ? और क्या हिताहित ही को पहचानेंगे ? इसलिए सब से पहले ज्ञान का सम्पादन करना आवश्यकीय है । यहाँ 'दया' शब्द उपलक्षण है, इसलिए उससे प्रत्येक क्रिया का अर्थ समझना चाहिए ।

मूलः-सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥५॥

छायाः-श्रुत्वा जानाति कल्याणं,श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयेऽपि जानाति श्रुत्वा, यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् ।५।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सोच्चा) सुन कर (कल्लाणं) कल्याण कारी मार्ग को (जाणइ) जानता है, और (सोच्चा) सुन कर (पावगं) पापमय मार्ग को (जाणइ) जानता है । (उभयं पि) और दोनों को भी (सोच्चा)सुन कर (जाणई) जानता है । (जं) जो (छेयं) अच्छा हो (तं) उसको (समायरे) अङ्गीकार करे ।

भावार्थः-हे गौतम ! सुनने से हित अहित, मंगल अमंगल, पुण्य और पाप का बोध होता है। और बोध हो जाने पर यह आत्मा अपने आप श्रेयस्कर मार्ग को अङ्गीकार कर लेता है। और इसी मार्ग के आधार पर आखिर में अनंत सुखमय मोक्षधाम को भी यह पा लेता है। इसलिए महर्षियों ने श्रुतज्ञान ही को प्रथम स्थान दिया है।

मूलः-जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ ॥ ६ ॥

छायाः-यथा शूची ससूत्रा, पतिताऽपि न विनश्यते ।
तथा जीवः ससूत्रः, संसारे न विनश्यते ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (ससुत्ता) सूत्र सहित-धागे के साथ (पडिआ) गिरी हुई (सूई) सूई (न) नहीं (विणस्सइ) खोती है। (तहा) उसी तरह (ससुत्ता) सूत्र श्रुत-ज्ञान सहित (जीवे) जीव (संसारे) संसार में (वि) भी (न) नहीं (विणस्सइ) नाश होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार धागे वाली सुई गिर जाने पर भी खो नहीं सकती, अर्थात् पुनः शीघ्र मिल जाती है, उसी प्रकार श्रुत ज्ञान संयुक्त आत्मा कदाचित् मिथ्यात्वादि अशुभ कर्मोदय से सम्यक्त्व धर्म से च्युत हो भी जाय तो वह आत्मा पुनः रत्नत्रय रूप धर्म को शीघ्रता से प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त श्रुत ज्ञानवान् आत्मा संसार में रहते हुए भी दुःखी नहीं होता अर्थात् समता और शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करता है।

मूलः-जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥७॥

छायाः-यावन्तोऽविद्याःपुरुषाः, सर्वे ते दुःखसंभवाः।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारे अनन्तके ॥७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जावंत) जितने (अविज्जा) तत्व ज्ञान रहित (पुरिसा) मनुष्य हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसम्भवा) दुःख उत्पन्न होने के स्थान रूप हैं। इसीसे वे (मूढा) मूर्ख (अणंतए) अनंत (संसारम्मि) संसार में (बहुसो) अनेकों वार (लुप्पंति) पीड़ित होते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! तत्व ज्ञान से हीन जितने भी आत्मा हैं, वे सबके सब अनेकों दुःखों के भागी हैं। इस अनंत संसार की चक्रफेरी में परिभ्रमण करते हुए वे नाना प्रकार के दुःखों को उठाते हैं। उन आत्माओं का क्षण भर के लिए भी अपने कृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है। हे गौतम ! इस कदर ज्ञान की मुख्यता बताने पर तुझे यों न समझ लेना चाहिए, कि मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है बल्कि उसके साथ क्रिया की भी ज़रूरत है । ज्ञान और क्रिया इन दोनों के होने पर ही मुक्ति हो सकती है।

मूलः-इहमेगे उ मरणंति, अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरिअं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥८॥

छायाः-इहैके तु मन्यन्ते अप्रत्याख्याय पापकम् ।
आर्यत्वं विदित्वा, सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्ते ॥८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (उ) फिर इस विषय में (इह) यहाँ (मेगे) कई एक मनुष्य यों (मरणंति) मानते हैं कि (पावगं) पाप का (अप्पच्चक्खाय) बिना त्याग किये ही केवल (आयरिअं) अनुष्ठान को (विदित्ताणं) जान लेने ही से (सव्वदुक्खा) सब दुःखों से (विमुच्चई) मुक्त हो जाता है।

भावार्थः-हे आर्य ! कई एक लोग ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं, कि पाप के बिना ही त्यागे, अनुष्ठान मात्र को जान लेने से मुक्ति हो जाती है । पर उनका ऐसा मानना

नितान्त असंगत है। क्योंकि अनुष्ठान को जान लेने ही से मुक्ति नहीं हो जाती है। मुक्ति तो तभी होगी, जब उस विषय में प्रवृत्ति की जायगी। अतः मुक्ति पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यक्ता होती है। जिसने सद् ज्ञान के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करली है, उसके लिए मुक्ति सच-मुच ही अति निकट हो जाती है। अकेले ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है।

मूलः—भणंता अकरिंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमत्तेणं, समासासंति अप्पयं ॥९॥

छायाः-भणन्तोऽकुर्वन्तश्च, बन्धमोक्ष प्रतिज्ञिनः ।
वाग्वीर्यमात्रेण, समाश्वसन्त्यात्मानम् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (बंधमोक्खपइण्णिणो) ज्ञान ही को बंध और मोक्ष का कारण मानने वाले, कई एक लोग ज्ञान ही से मुक्ति होती है, ऐसा (भणंता) बोलते हैं। (य) परन्तु (अकरिंता) अनुष्ठान वे नहीं करते। अतः वे लोग (वायाविरियमत्तेणं) इस प्रकार वचन की वीरता मात्र ही से (अप्पयं) आत्मा को (समासासंति) अच्छी तरह आश्वासन देते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! कर्मों का बंधन और शमन एक ज्ञान ही से होता है, ऐसा दावा-प्रतिज्ञा-करने वाले कई एक लोग अनुष्ठान की उपेक्षा करके यों बोलते हैं, कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जाती है, परन्तु वे एकान्त ज्ञान वादी लोग केवल अपने बोलने की वीरता मात्र ही से अपने आत्मा

को विश्वास देते हैं, कि हे आत्मा ! तू कुछ भी चिन्ता मत कर। तू पढ़ा लिखा है, बस, इसीसे कर्मों का मोचन हो जावेगा। तप, जप किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। हे गौतम ! इस प्रकार आत्मा को आश्वासन देना, मानो आत्मा को धोखा देना है। क्योंकि, ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान करने ही से कर्मों का मोचन होता है। इसीलिए मुक्ति पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है।

मूलः-ण चित्ता तायए भासा, कश्रो विज्जाणुसासणं।
विसरणो पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥१०॥

छायाः-न चित्रास्त्रायन्ते भाषाः, कुतो विद्यानुशासनम्।
विषरणाःपापकर्मभिः,बालाःपरिडतमानिनः॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पंडियमाणिणो) अपने आपको पण्डित मानने वाले (बाला) अज्ञानी जन (पावकम्मेहिं) पाप कर्मों द्वारा (विसरणा) फँसे हुए यह नहीं जानते हैं कि (चित्ता) विचित्र प्रकार की (भासा) भाषा (तायए) त्राण-शरण (णं) नहीं होती है। तो फिर (विज्जाणुसासणं) तांत्रिक या कला कौशल की विद्या सीख लेने पर (कश्रो) कहाँ से त्राण शरण होगी।

भावार्थः-हे गौतम ! थोड़ा बहुत लिख पढ़ जाने ही से मुक्ति हो जायगी इस प्रकार का गर्व करने वाले लोग मूर्ख हैं। कर्मों के आवरण ने उनके असली प्रकाश को ढाँक रक्खा है। वे यह नहीं जानते कि प्राकृत संस्कृत आदि अनेकों

विचित्र भाषाओं के सीख लेने पर भी परलोक में कोई भाषा रक्षक नहीं हो सकती है। तो फिर विना अनुष्ठान के तांत्रिक कला-कौशल की साधारण विद्या की तो पूछ ही क्या है? वस्तुतः साधारण पढ़ लिख कर यह कहना कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जायगी, आत्मा को धोखा देना है, आत्मा को अधोगति में डालना है।

मूलः-जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे अ सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥११॥

छायाः-ये केचित् शरीरे सक्ताः, वर्णे रूपे च सर्वशः।
मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दुःखसंभवाः ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जे केइ) जो कोई भी ज्ञान वादी (मणसा) मन (कायवक्केणं) काय, वचन करके (सरीरे) शरीर में (वण्णे) वर्ण में (रूवे) रूप में (अ) शब्दादि में (सव्वसो) सर्वथा प्रकार से (सत्ता) आसक्त रहते हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसम्भवा) दुःख उत्पन्न होने के स्थान रूप है।

भावार्थः-हे गौतम! ज्ञान वादी अनुष्ठान को छोड़ देते हैं। और रूप गर्व में मदोन्मत्त होने वाले अपने शरीर को हृष्ट पुष्ट रखने के लिए वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आदि में मन, वचन, काया से पूरे पूरे आसक्त रहते हैं, फिर भी वे मुक्ति की आशा करते हैं। यह मृग-पिपासा है, अन्ततः ये सब दुःख ही के भागी होते हैं।

मूलः-निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥१२॥

छायाः-निर्ममो निरहङ्कारः, निस्संगस्त्यक्तगौरवः।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! महापुरुष वही है, जो (निम्ममो) ममता रहित (निरहंकारो) अहंकार रहित (निस्संगो) बाह्य अभ्यन्तर संग रहित (अ) और (चत्तगारवो) त्याग दिया है अभिमान को जिसने (सव्वभूएसु) तथा सर्व प्राणी मात्र क्या (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरे सु) स्थावर में (समो) समान भाव है जिसका।

भावार्थः-हे गौतम ! महापुरुष वही है जिसने ममता, अहंकार, संग, बड़प्पन आदि सभी का साथ एकान्त रूप से छोड़ दिया है। और जो प्राणी मात्र पर फिर चाहे वह कीड़े मकोड़े के रूप में हो, या हाथी के रूप में, सभी के ऊपर समभाव रखता है।

मूलः-लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, समो माणावमाणओ ॥१३॥

छायाः-लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा।
समो निन्दाप्रशंसासु,समो मानापमानयोः ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! महापुरुष वही है जो (लाभालाभे) प्राप्ति-अप्राप्ति में (सुहे) सुख में (दुक्खे) दुःख में (जीविए) जीवन (मरणे) मरण में (समो) समान भाव रखता है। तथा (निंदापसंसासु) निंदा और

प्रशंसा में एवं (माणावमाणओ) मान अपमान में (समो) समान भाव रखता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! मानव देहधारियों में उत्तम पुरुष वही है, जो इच्छित अर्थ की प्राप्ति-अप्राप्ति में, सुख दुःख में, जीवन-मरण में तथा निन्दा और स्तुति में, और मान अपमान में सदा समान भाव रखता है ।

मूलः-अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचंदणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥१४॥

छायाः-अनिश्रित इह लोके, परलोकेऽनिश्रितः ।
वासी चन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (इहं) इस (लोए) लोक में (अणिस्सिओ) अनैश्रित (परलोए) परलोक में (अणिस्सिओ) अनैश्रित (अ) और किसी के द्वारा (वासीचंदणकप्पो) वसूले से छेदने पर या चंदन का विलेपन करने पर और (असणे) भोजन खाने पर (तहा) तथा (अणसणे) अनशन व्रत, सभी में समान भाव रखता हो, वही महापुरुष है ।

भावार्थः-हे गौतम ! मोक्षाधिकारी वे ही मनुष्य हैं, जिन्हें इस लोक के वैभवों और स्वर्गीय सुखों की चाह नहीं होती है । कोई उन्हें वसूले (शस्त्र विशेष) से छेदें या कोई उन पर चन्दन का विलेपन करें, उन्हें भोजन मिले या फ़ाकाकशी करना पड़े, इन सम्पूर्ण अवस्थाओं में सदा सर्वदा समभाव से रहते हैं ।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय छट्ठा)

सम्यक् निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः- अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥१॥

छायाः-अर्हन्तो मद्देवाः, यावज्जीवं सुसाधवो गुरवः।
जिन प्रज्ञप्तं तत्त्वं, इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम्।१।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (अरिहंतो) अरिहंत (महदेवो) बड़े देव (सुसाहुणो) सुसाधु (गुरुणो) गुरु और (जिणपण्णत्तं) जिनराज द्वारा प्ररूपित (तत्तं) तत्व को मानना यही सम्यक्त्व है (इअ) इस (सम्मत्तं) सम्यक्त्व को (मए) मैंने (गहियं) ग्रहण किया ऐसी जिसकी बुद्धि है वही सम्यक्त्व धारी है।

भावार्थः–हे गौतम ! कर्म रूप शत्रुओं को नष्ट करके जिन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो अष्टादश दोषों से रहित हैं वही मेरे देव हैं। पांच महाव्रतों को यथा योग्य पालन करते हों वह मेरे गुरु हैं। और वीतराग के कहे हुए तत्त्व ही मेरा धर्म है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा को सम्यक्त्व कहते

हैं। इस प्रकार के सम्यक्त्व को जिसने हृदयंगम कर लिया है, वही सम्यक्त्व धारी है।

मूलः-परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा यावि ।
वावण्णकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ॥२॥

छायाः-परमार्थसंस्तवः सुदृष्टपरमार्थसेवनं वाऽपि ।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं च सम्यक्त्वश्रद्धानम्॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (परमत्थसंथवो) तात्त्विक पदार्थ का चिन्तवन करना (वा) और (सुदिट्ठपरमत्थसेवणा) अच्छी तरह से देखे हैं तात्त्विक अर्थ जिन्होंने उनकी सेवा शुश्रूषा करना (य) और (अवि) समुच्चय अर्थ में (वावण्ण कुदंसणवज्जणाए) नष्ट हो गया है सम्यक्त्व दर्शन जिसका, और जो दोषों से सहित है, दर्शन जिसका उसकी संगति परित्यागना, यही (सम्मत्तसद्दहणा) सम्यक्त्व की श्रद्धना है।

भावार्थः—हे गौतम ! फिर जो बारंबार तात्त्विक पदार्थ का चिन्तवन करता है। और जो अच्छी तरह से तात्त्विक अर्थ पर पहुँच गये हैं, उनकी यथा योग्य सेवा शुश्रूषा करता हो, तथा जो सम्यक्त्व दर्शन से पतित हो गये हैं, व जिन का " दर्शन सिद्धान्त " दूषित है, उन की संगति का त्याग करता हो वही सम्यक्त्व पूर्वक श्रद्धावान् है।

मूलः-कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं,एस मग्गे हि उत्तमे ॥३॥

छायाः कुप्रवचनपापण्डिनः, सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः ।
सन्मार्गं तु जिनाख्यातं, एष मार्गो ह्युत्तमः॥३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (कुप्पवयणपासंडी) दूषित वचन कहने वाले (सव्वे) सभी (उम्मग्गपट्ठिआ उन्मार्ग में चलने वाले होते हैं । (तु) और (जिणक्खायं) श्री वीतराग का कहा हुआ मार्ग ही (सम्मग्गं) सन्मार्ग है। (एस) यह (मग्गे) मार्ग (हि) निश्चय रूप से (उत्तमे) प्रधान है। ऐसी जिस की मानता है । वही सम्यक्त्व पूर्वक श्रद्धावान् है।

भावार्थः-हे गौतम ! हिंसामय दूषित वचन बोलने वाले हैं वे सभी उन्मार्ग गामी हैं। राग द्वेष रहित और आप्त पुरुषों का बताया हुआ मार्ग ही सन्मार्ग है। वही मार्ग सब से उत्तम है, प्रधान है, ऐसी जिसकी निश्चय पूर्वक मान्यता है वही सम्यक् श्रद्धावान् है।

मूलः-तहिआणं तु[1] भावाणं; सब्भावे उवएसणं ।
भावेण सद्दहंतस्स; सम्मत्तं तं विआहिअं ॥ ४ ॥

छायाः-तथ्यानाम् तु भावानाम् सद्भाव उपदशनम् ।
भावेन श्रद्दधतः, सम्यक्त्वं तद् व्याख्यातम् ।४।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सब्भावे) सद्भावनावाले के द्वारा कहे हुए (तहिआणं) सत्य (भावाणं) पदार्थों का (उवएसणं) उपदेश (भावेण) भावना से (सद्दहंत-

1-तुशब्दस्तुपादपूर्त्यार्थे ।

स्स तं) श्रद्धापूर्वक वर्तने वाले को (सम्मत्तं) सम्यक्त्वी ऐसा (विश्राहिश्रं) वीतरागों ने कहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसकी भावना विशुद्ध है उसके द्वारा कहे हुए यथार्थ पदार्थों को जो भावना पूर्वक श्रद्धा के साथ मानता हो, वही सम्यक्त्वी है ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है।

मूलः-निस्सग्गुवएसरुई, आणरुई सुत्तबीअरुइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई, किरियासंखेवधम्मरुई ॥५॥

छायाः-निसर्गोपदेशरुचिः,
आज्ञारुचिः सूत्रबीजरुचिरेव ।
अभिगमविस्ताररुचिः,
क्रियासंक्षेपधर्मरुचिः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (निस्सग्गुवएसरुई) बिना उपदेश, स्वभाव से और उपदेश से जो रुचि हो (आणरुई) आज्ञा से रुचि हो (सुत्तबीअरुइमेव) श्रुत श्रवण से एवं एक से अनेक अर्थ निकलते हों वैसे वचन सुनने से रुचि हो (अभिगमवित्थाररुई) विशेष विज्ञान होने पर तथा बहुत विस्तार से सुनने से रुचि हो (किरियासंखेवधम्मरुई) क्रिया करते करते तथा संक्षेप से या श्रुत धर्म-श्रवण से रुचि हो।

भावार्थः-हे गौतम ! उपदेश श्रवण न करके स्वभाव से ही तत्व की रुचि होने पर किसी किसी को सम्यक्त्व-की

प्राप्ति हो जाती है। किसीको उपदेश सुनने से,किसीको भगवान की इस प्रकार की आज्ञा है ऐसा, सुनने से, सूत्रों के श्रवण करने से, एक शब्द को जो बीज की तरह अनेक अर्थ बताता हो ऐसा वचन सुनने से, विशेष विज्ञान हो जाने से, विस्तार पूर्वक अर्थ सुनने से, धार्मिक अनुष्ठान करने से, संक्षेप अर्थ सुनने से, श्रुत धर्म के मनन पूर्वक श्रवण करने से तत्वों की रुचि होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

मूलः–नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइअव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥६॥

छायाः-नास्ति चारित्रं सम्यक्त्वविहीनं,
दर्शने तु भक्तव्यम्।
सम्यक्त्व चारित्रे,
युगपत् पूर्वं वा सम्यक्त्वम् ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सम्मत्तविहूणं) सम्यक्त्व के विना (चरित्तं) चारित्र (नत्थि) नहीं है (उ) और (दंसणे) दर्शन के होने पर (भइअव्वं) चारित्र भजनीय हैं। (सम्मत्तचरित्ताइं) सम्यक्त्व और चारित्र (जुगवं) एक साथ भी होते हैं। (व) अथवा (सम्मत्तं) सम्यक्त्व चारित्र के (पुव्वं) पूर्व भी होता है।

भावार्थः–हे आर्य ! सम्यक्त्व के विना चारित्र का उदय होता ही नहीं है। पहले सम्यक्त्व होगा, फिर चारित्र हो सकता है, और सम्यक्त्व में चारित्र का भाव-

भाव है, क्योंकि सम्यक्त्वी कोई ग्रहस्थ धर्म का पालन करता है, और कोई मुनि धर्म का । सम्यक्त्व और चारित्र को उत्पत्ति एक साथ भी होती है । अथवा चारित्र. के पहले भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है ।

मूलः-नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न होंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥ ७ ॥

छायाः-नादर्शनिनो ज्ञानम् ,
ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः ।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः,
नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अदंसणिस्स) सम्यक्त्व से रहित मनुष्य को (नाणं) ज्ञान (न) नहीं होता है । और (नाणेण) ज्ञान के (विणा) बिना (चरणगुणा) चारित्र के गुण (न) नहीं (होंति) होते हैं । और (अगुणिस्स) चारित्र रहित मनुष्य को (मोक्खो) कर्मों से मुक्ति (नत्थि) नहीं होती है । और (अमुक्कस्स) कर्म रहित हुए विना किसी को (निव्वाणं) निर्वाण (नत्थि) नहीं प्राप्त हो सकता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! सम्यक्त्व के प्राप्त हुए बिना मनुष्य को सम्यक् ज्ञान नहीं मिलता है, ज्ञान के बिना

आत्मिक गुणों का प्रकट होना दुर्लभ है। विना आत्मिक गुण प्रकट हुए उसके जन्म जन्मान्तरों के संचित कर्मों का क्षय होना दुसाध्य है। और कर्मों का नाश हुए विना किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता है। अतः सब के पहले सम्यक्त्व की आवश्यकता है।

मूलः-निस्संकिय-निक्कंखिय-
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह—थिरीकरणे,
वच्छल्लपभावणे अट्ठ॥ ८॥

छायाः-निः शंकितं निः कांक्षितम्,
निर्विचिकित्साऽमूढदृष्टिश्च।
उपबृंहा-स्थिरीकरणे,
वात्सल्यप्रभावनेऽष्टौ॥ ८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! सम्यक्त्व धारी वही है, जो (निस्संकिय) निःशंकित रहता है, (निक्कंखिय) अतत्त्वों की कांक्षा रहित रहता है। (निव्वितिगिच्छा) सुकृतों के फल होने में संदेह रहित रहता है। (य) और (अमूढदिट्ठी) जो अतत्त्वधारियों को ऋद्धिवन्त देख कर मोह न करता हुआ रहता है। (उववूह-थिरीकरणे) सम्यक्त्वी की दृढ़ता की प्रशंसा करता रहता है। सम्यक्त्व से पतित होते हुए को स्थिर करता (वच्छल्लपभावणे) स्वधर्मी जनों की सेवा शुश्रूषा कर वात्सल्यभाव दिखाता रहता है।

और आठवें में जो सन्मार्ग की उन्नति करता रहता है।

भावार्थः—हे आर्य ! सम्यक्त्वधारी वही है, जो शुद्ध देव, गुरु, धर्म रूप तत्वों पर निःशंकित हो कर श्रद्धा रखता है। कुदेव कुगुरु कुधर्म रूप जो अतत्त्व हैं, उन्हें ग्रहण करने की तनिक भी अभिलाषा नहीं करता है। गृहस्थ-धर्म या मुनि धर्म से होने वाले फलों में जो कभी भी संदेह नहीं करता। अन्य दर्शनी को धन सम्पत्ति से भरा पूरा देख कर जो ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे दर्शन से इस का दर्शन ठीक है, तभी तो यह इतना धनवान् है, सम्यक्त्वधारियों की यथायोग्य प्रशंसा कर के जो उन के सम्यक्त्व के गुणों की वृद्धि करता है, सम्यक्त्व से पतित होते हुए अन्य पुरुष को यथा शक्ति प्रयत्न करके सम्यक्त्व में जो दृढ़ करता है। स्वधर्मी जनों की सेवा शुश्रूषा करके जो उनके प्रति वात्सल्य भाव दिखाता है।

मूलः-मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोहि ॥६॥

छायाः-मिथ्यादर्शनरक्ताः, सनिदाना हि हिंसकाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां पुनः दुर्लभा बोधिः ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मिच्छादंसणरत्ता) मिथ्या-दर्शन में रत रहने वाले और (सनियाणा) निदान करनेवाले (हिंसगा) हिंसा करने वाले (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरंति) मरते हैं। (तेसिं) उन को (पुण) फिर (बोहि) सम्यक्त्व धर्म का मिलना (हु) निश्चय (दुल्लहा) दुर्लभ है।

भावार्थः-हे आर्य ! कुदेव कुगुरु कुधर्म में रत रहने वाले और निदान सहित धर्म क्रिया करने वाले, एवं हिंसा करने वाले जो जीव हैं, वे इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करके मरते हैं, तो फिर उन्हें अगले भव में सम्यक्त्व बोध का मिलना महान् कठिन् है।

मूलः-सम्मदंसणरत्ता अनियाणा; सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा; सुलहा तेसिं भवे बोहि ॥१०॥

छायाः-सम्यग्दर्शनरक्ता अनिदाना शुक्ललेश्यामवगाढाः
इति ये म्रियन्ते जीवाः,सुलभा तेषां भवति बोधिः।१०।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सम्मदंसणरत्ता) सम्यक्त्व दर्शन में रत रहनेवाले (अनियाणा) निदान नहीं करनेवाले एवं (सुक्कलेसमोगाढा) शुक्ल लेश्या से समन्वित हृदय वाले। (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरंति) मरते हैं (तेसिं) उन्हें (बोहि) सम्यक्त्व (सुलहा) सुलभता से (भवे) प्राप्त हो सक्ता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो शुद्ध देव, गुरु और धर्म रूप दर्शन में श्रद्धा पूर्वक सदैव रत रहता हो। निदान-रहित तप, धर्म क्रिया करता हो, और शुद्ध परिणामों से जिसका हृदय उमँग रहा हो। इस तरह प्रवृत्ति रख करके जो जीव मरते हैं; उन्हें धर्म बोध की प्राप्ति अगले भव में सुगमतासे होती जाती है।

मूलः-जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करिंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥११॥

छायाः-जिनवचनेऽनुरक्ताः,
जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन।
अमला असंक्लिष्टास्ते
भवन्ति परीतसंसारिणः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जे) जो जीव (जिण-वयणे) वीतरागों के वचनों में (अणुरत्ता) अनुरक्त रहते हैं। और (भावेणं) श्रद्धापूर्वक (जिणवयणं) जिन वचनों को प्रमाण रूप (करिंति) मानते हैं (अमला) मिथ्यात्व रूप मल से रहित एवं (असंकिलिट्ठा) संक्लेश करके रहित जो हों, (ते) वे (परित्तसंसारी) अल्प संसारी होते हैं।

भावार्थः हे आर्य ! जो वीतराग के कहे हुए वचनों में अनुरक्त रह कर उनके वचनों को प्रमाण भूत मानते हैं, तथा मिथ्यात्व रूप दुर्गुणों से बचते हुए राग द्वेष से दूर रहते हैं, वे ही सम्यक्त्व को प्राप्त करके, अल्प समय में ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

मूलः-जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज पास,
भूतेहिं जाणे पडिलेह सायं।

तम्हाऽतिविज्जो परमंति णच्चा,
सम्मत्तदंसी ण करेति पावं ॥१२॥

छायाः—जातिं च वृद्धिं च इह दृष्ट्वा,
भूतैर्ज्ञात्वा प्रतिलेख्य सातम् ।

तस्मादतिविज्ञः परमिति ज्ञात्वा,
सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जातिं) जन्म (च) और (वुड्ढिं) वृद्धपन को (इहज्ज) इस संसार में (पास) देख कर (च) और (भूतेहिं) प्राणियों करके (सायं) साता को (जाणे) जान (पडिलेह) देख (तम्हा) इसलिये (ऽति विज्जो) तत्त्वज्ञ (परमं) मोक्ष मार्ग (णच्चा) जान कर (सम्मत्तदंसी) सम्यक्त्व दृष्टि वाले (पावं) पाप को (ण) नहीं (करेति) करता है ।

भावार्थः–हे गौतम ! इस संसार में जन्म और मरण के महान् दुःखों को तू देख और इस बात का ज्ञान प्राप्त कर कि सब जीवों को सुख प्रिय है और दुख अप्रिय है । इसलिये ज्ञानी जन मोक्ष के मार्ग को जान कर सम्यक्त्व धारी बन कर किंचित् मात्र भी पाप नहीं करते हैं ।

मूलः–इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१३॥

छाया:-इतो विध्वंसमानस्य, पुनः संबोधिर्दुर्लभा ।
दुर्लभातथाऽर्चा ये धर्मार्थं व्याकुर्वन्ति ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (इओ) यहाँ से (विद्धंसमाणस्स) मरने के बाद उसको (पुणो) फिर (संबोहि) धर्म बोध की प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। उससे भी कठिन (जे) जो (धम्मट्ठं) धर्म रूप अर्थ का (वियागरे) प्रकाश करता है, ऐसा (तहच्चाओ) तथा भूत का मानव शरीर मिलना अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा योग्य भावना का उस में आना (दुल्लहाओ) दुर्लभ है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो जीव सम्यक्त्व से पतित होकर यहां से मरता है। उस को फिर धर्म बोध की प्राप्ति होना महान् कठिन है। इस से भी यथातथ्य धर्म रूप अर्थ का प्रकाशन जिस मानव शरीर से होता रहता है। ऐसा मनुष्य देह अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य उच्च लेश्याओं (भावनाओं) का आना महान् कठिन है।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥



ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय सातवां)

धर्म निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूल: महव्वए पंच अणुव्वए य,
तहेव पंचासवसंवरे य ॥
विरतिं इह स्सामणियंमि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्तिबेमि ॥१॥

छाया:-महाव्रतानि पञ्चाणुव्रतानि च,
तथैव पञ्चाश्रवान् संवरंच ।
विरतिमिह श्रामण्ये प्रज्ञः,
लवापशाङ्कीः श्रमण इति ब्रवीमि॥१॥

अन्वयार्थः-हे मनुजो ! (इह) इस जिन शासन में (स्सामणियंमि) चारित्र पालन करने में (पन्ने) बुद्धिमान् और (लवावसक्की) कर्म तोड़ने में समर्थ ऐसे (समणे) साधु (पंच) पांच (महव्वए) महाव्रत (य) और (अणुव्वए) पांच अणुव्रत (य) और (तहेव) वैसे ही (पंचासवसंवरे य) पांच आश्रव और संवर रूपा (विरतिं) विरति को (त्तिबेमि) कहता हूँ।

भावार्थः–हे मनुजो ! सच्चारित्र के पालन करने में महा बुद्धिशाली और कर्मों को नष्ट करने में समर्थ ऐसे श्रमण भगवंत महावीर ने इस शासन में साधुओं के लिए तो पांच महाव्रत अर्थात् अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य. और अकिंचन को पूर्ण रूप से पालने की आज्ञा दी है, और गृहस्थों के लिए कम से कम पांच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रत यों बारह प्रकार से धर्म को धारण करना आवश्यकीय बताया है। वे इस प्रकार हैः–**थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं**–हिलते फिरते त्रस जीवों को बिना अपराध के देख भाल कर द्वेष वश मारने की नियत से हिंसा न करना **मुसावायाओ वेरमणं**–जिस भाषा से अनर्थ पैदा होता हो और राज एवं पंचायत में अनादर हो, ऐसी लोक विरुद्ध असत्य भाषा को तो कम से कम नहीं बोलना। **थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं**–गुप्त रीति से किसी के घर में घुस कर, गांठ खोल कर, ताले पर कुंजी लगा कर, लुटेरे की तरह या और भी किसी तरह की जिससे व्यवहार मार्ग में भी लज्जा हो, ऐसी चोरी तो कम से कम नहीं करना। **सदारसंतोसे** * कुल के अग्रसरों की साक्षी से जिसके

* गृहस्थ–धर्म पालन करने वाली महिलाओं के लिए भी अपने कुल के अग्रसरों की साक्षी से विवाहित पुरुष के सिवाय समस्त पुरुष वर्ग को पिता भ्राता और पुत्र के समान समझना चाहिए। और स्वपति के साथ भी कम से कम पर्व तिथियों पर कुशील सेवन का परित्याग करना चाहिए।

साथ विवाह किया है उस स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को माता एवं बहिन और बेटी की निगाह से देखना और अपनी स्त्री के साथ भी कम से कम अष्टमी, चतुर्दशी, एकादशी, बीज, पंचमी, अमावस्या, पूर्णिमा के दिन का संभोग त्याग करना। इच्छापरिमाण-खेत, कूए, सोना, चांदी, धान्य, पशु, आदि सम्पत्ति का कम से कम जितनी इच्छा हो उतनी ही का परिमाण करना। ताकि परिमाण से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने की लालसा रुक जाय। यह भी गृहस्थ का एक धर्म है। गृहस्थ को अपने छट्ठे धर्म के अनुसार, दिग्विव्रय-चारों दिशा और ऊंची नीची दिशाओं में गमन करने का नियम कर लेना। सातवें में उपभोग-परिभोग परिमाण-खाने पीने की वस्तुओं की और पहनने की वस्तुओं की सीमा बांधना ऐसा करने से कभी वह तृष्णा के साथ भी विजय प्राप्त कर लेता है। फिर उससे मुक्ति भी निकट आजाती है। इसका विशेष विवरण यों है:—

मूल-इंगाली, वण, साडी,
भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव य दंत-
लक्खरसकेसविसविसयं ॥ २ ॥

छायाः-अङ्गार-वन-शाटी,
भाटिः-स्फोटिः सुवर्जयेत् कर्म।

वाणिज्यं चैव च दन्त-
लाक्षा-रस-केश-विष-विषयम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (इंगाली) कोयले पड़वाने का (वण) वन कटवाने का (साडी) गाड़ियें बनाकर बेचने का (भाडी) गाड़ी, घोड़े, बैल, आदि से भाड़ा कमाने का (फोडी) खाँन आदि खुदवाने का (कम्मं) कर्म गृहस्थ को (सुवज्जए) परित्याग कर देना चाहिए। (च) और (दंत) हाथी दांत का (लक्ख) लाख का (रस) मधु आदि का (केस) मुर्गे कबूतरों आदि के बेचने का (विसविसयं) ज़हर और शस्त्रों आदि का (वाणिज्जं) व्यापार (चेव) यह भी निश्चय रूप से गृहस्थों को छोड़ देना चाहिए ।

भावार्थः--हे आर्य ! गृहस्थ धर्म पालन करनेवालों को कोलसे तैयार करवा कर बेचने का या कुम्हार,लुहार,भड़भूंजे आदि के काम जिनमें महान् अग्नि का आरंभ होना है, नहीं करना चाहिए। वन, झाड़ी, कटवाने का ठेका वगैरह लेने का, इक्के, गाड़ी, वगैरह तैयार करवा कर बेचने का, बैल, घोड़े, ऊँट आदि को भाड़े से फिराने का, या इक्के, गाड़ी, वगैरह भाड़े फिरा करके आजीविका कमाने का और खाँन आदि को खुदवाने का कर्म आजीवन के लिए छोड़ देना चाहिए। और व्यापार संबंध में हाथी-दाँत,चमड़े आदि का, लाख का, मदिरा शहद आदि का,कबूतर, बटेर, तोते, कुक्कट, बकरे आदि का, संखिया, बच्छनाग आदि जिनके खाने से मनुष्य मर जाते हैं ऐसे ज़हरीले पदार्थों का,या तलवार,बंदूक, बरछी आदि का व्यापार कम से कम गृहस्थ-धर्म पालन करनेवाले को कभी भूल कर भी नहीं करना चाहिए।

मूलः-एवं खु जंतपिल्लणकम्मं,निल्लंछणं च दवदाणं ।
सरदहतलायसोसं,असइपोसं च वज्जिज्जा॥३॥

छायाः-एवं खलु यन्त्रपीडनकर्म,निर्लाञ्छनं दवदानम् ।
सरद्रहतडागशोषं, असती पोषम् च वर्जयेत् ॥३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (खु) निश्चय करके (जंतपिल्लण) यंत्रों के द्वारा प्राणियों को बाधा पहुँचे ऐसा (च) और (निल्लंछणं) अण्डकोप फुड़वाने का (दवदाणं) दावानल लगाने का (सरदह-तलायसोसं) सर, द्रह, तालाव की पाल फोड़ने का (च) और (असईपोसं) दासी वेश्यादि के पोपण का (कम्मं) कर्म (वज्जिज्जा) छोड़ देना चाहिए ।

भावार्थः-हे गौतम ! ऐसे कई प्रकार के यंत्र हैं, कि जिनके द्वारा पंचेन्द्रियों के अवयवों का छेदन भेदन होता हो, अथवा यंत्रादिकों के बनाने से प्राणियों को पीड़ा हो, आदि ऐसे यंत्र संबंधी-धंधों का गृहस्थ-धर्म पालन करनेवालों को परित्याग कर देना चाहिए और बैल आदि को नपुंसक अर्थात् खसी करने का, दावानल सुलगाने का, विना खोदी हुई जगह पर पानी भरा हुआ हो, ऐसा सर, एवं खूब जहाँ पानी भरा हुआ हो ऐसा द्रह तथा तालाव, कूआ, बावड़ी आदि जिसके द्वारा बहुत से जीव पानी पीकर अपनी तृपा बुझाते हैं। उनकी पाल फोड़ कर पानी निकाल देने का, दासी वेश्या आदि को व्यभिचार के निमित्त या चूहों को मारने के लिये बिल्ली आदि का पोपण करना, आदि आदि

कर्म गृहस्थी को जीवन भर के लिए छोड़ देना ही सच्चा गृहस्थ-धर्म है। गृहस्थ का आठवाँ धर्म अणत्थदंडवेरमणं-हिंसक विचारों, अनर्थकारी बातों आदि का परित्याग करना है। गृहस्थ का नौवाँ धर्म यह है, कि सामाइयं-दिन भर में कम से कम एक अन्तर मुहूर्त्त (४८ मिनिट) तो ऐसा वितावें कि संसार से बिलकुल ही विरक्त हो कर उस समय वह आत्मिक गुणों का चिन्तवन कर सकें। गृहस्थ का दशवाँ धर्म है देसावगासियं-जिन पदार्थों की छूट[1] रक्खी है, उनका फिर भी त्याग करना और निर्धारित समय के लिए सांसारिक झँझटों से पृथक् रहना। ग्यारहवाँ धर्म यह है, कि पोसहोववासे-कम से कम महीने भर में प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशी पूर्णिमा और अमावस्या को पौषध करे* अर्थात् इन दिनों में वे सम्पूर्ण सांसारिक झँझटों को छोड़ कर अहोरात्रि आध्यात्मिक विचारों का मनन किया करें। और बारहवाँ गृहस्थ का धर्म यह है कि अतिहिसंयअस्सविभागे अपने घर आये हुए अतिथि का सत्कार कर उन्हें भोजन वे देते रहें। इस प्रकार गृहस्थ को अपने गृहस्थ धर्म का पालन करते रहना चाहिये।

यदि इस प्रकार गृहस्थ का धर्म पालन करते हुए कोई उत्तीर्ण हो जाय और वह फिर आगे बढ़ना चाहे तो इस प्रकार प्रतिमा धारण कर गृहस्थ जीवन को सुशोभित करे।

१-आगार

* The 11th vow of a layman in which he has to abandon all sinful activities for a day and has to remain in a Religious place fasting]

मूलः-दंसणवयसामाइयपोसहपडिमा य बंभ अचित्ते ।
आरंभपेसउदिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥ ४ ॥

छायाः-दर्शनव्रत सामायिक-
पौषधप्रतिमा च ब्रह्म अचित्तम् ।
आरंभप्रेषणोद्दिष्टवर्जकः,
श्रमणभूतश्च ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (दंसणवयसामाइय) दर्शन, व्रत, सामायिक, पडिमा (य) और (पोसह) पौषध (य) और (पडिमा) पांचवीं में पांच बातों का परित्याग.वह करे (बंभ) ब्रह्मचर्य पाले (अचित्ते) सचित्त का भोजन न करे (आरंभ) आरंभ त्यागे (पेस) दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग करना, (उद्दिट्ठवज्जए) अपने लिए बनाये हुए भोजन का परित्याग करना (य) और नौवीं पडिमा में (समणभूए) साधु के समान वृत्ति को पालना ।

भावार्थः-हे गौतम !, गृहस्थ धर्म की ऊंची पायरी पर चढ़ने की विधि इस प्रकार है:—पहले अपनी श्रद्धा की ओर दृष्टिपात करके वह देख ले, कि मेरी श्रद्धा में कोई भ्रम तो नहीं है । इस तरह लगातार एक महीने तक श्रद्धा के विषय में ध्यान पूर्वक अभ्यास वह करता रहे । फिर उसके बाद दो मास तक पहले लिये हुए व्रतों को निर्मल रूप से पालने का अभ्यास वह करे । तीसरी पडिमा में तीन मास तक यह

अभ्यास करे कि किसी भी जीव पर राग द्वेष के भावों को वह न आने दे। अर्थात् इस प्रकार अपना हृदय सामायिक मय बना ले। चौथी पडिमा में चार महीने में छः छः के हिसाब से पौषध करे। पांचवीं पडिमा में पांच महीने तक इन पांच बातों का अभ्यास करे। (१) पौषध में ध्यान करे, (२) शृंगार के निमित्त स्नान न करे,(३) रात्रि भोजन न करे (४) पौषध के सिवाय और दिनों में दिनका ब्रह्मचर्य पाले, (५) रात्रि में ब्रह्मचर्य की मर्यादा करता रहे। छठी पडिमा में छः महीने तक सब प्रकार से ब्रह्मचर्य के पालन करने का अभ्यास वह करे। सातवीं पडिमा में सात महीने तक सचित्त भोजन न खाने का अभ्यास करे। आठवीं पडिमा में आठ महीने तक स्वतः कोई आरंभ न करे। नौवीं पडिमा में नौ महीने तक दूसरों से भी, आरम्भ न करवावे। दशवीं पडिमा में दश महीने तक अपने लिए किया हुआ भोजन न खावे। ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक साधु के समान क्रियाओं का पालन वह करता रहे। शक्ति हो तो बालों का लोच भी करे, नहीं शक्ति हो तो हजामत करवाले, खुली दण्डी का रजोहरण बगल में रक्खे। मुंह पर मुंह-पत्ती बंधी हुई रक्खे। और ४२ दोषों को टाल कर अपने ज्ञाति वालों के यहां से भोजन लावे, इस प्रकार उत्तरोत्तर गुण बढ़ाते हुए प्रथम पडिमा में एकान्तर तप करे और दूसरी पडिमा में दो महीने तक बेले बेले पारणा करे। इसी तरह ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक ग्यारह ग्यारह उपवास करता रहे। अर्थात् एक दिन भोजनकरे फिर ग्यारह उपवास करे। फिर एक दिन भोजन करे। यों लगातार ग्यारह महीने तक ग्यारह का पारणा करे।

इस प्रकार गृहस्थ-धर्म पालते पालते अपने जीवन

का अंतिम समय यदि आ जाय तो अपच्छिमा मर-णंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा-सब सांसारिक व्यवहारों का सब प्रकार से आजन्म के लिए परित्याग करके संथारा * (समाधि) धारण करले, और अपने त्याग धर्म में किसी भी प्रकार की दोषापत्ति भूल से यदि हो गयी हो, तो आलोचक के पास उन बातों को प्रकाशित कर दे। जो वे प्रायश्चित्त उसके लिए दें उसे स्वीकार कर अपनी आत्मा को निर्मल बनावे फिर प्राणी मात्र पर यों मैत्री भाव रक्खे।

मूलः-खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणइ ॥५॥

छायाः-क्षमयामि सर्वान् जीवान्,
सर्वे जीवा क्षमन्तु मे।
मैत्री मे सर्वभूतेषु,
वैरं मम न केनापि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-(सव्वे) सब (जीवा) जीवों को (खामेमि) खमाता हूं। (मे) मुझे (सव्वे) सब (जीवा) जीव (खमंतु) क्षमा करो (सव्व भूएसु) प्राणी मात्र में (मे) मेरी (मित्ती) मैत्री भावना है (केणइ) किसी के भी साथ (मज्झं) मेरा (वेरं) वैर (न) नहीं है।

---

* [Act of meditating that a particular person may die in an undistracted condition of mind]

भावार्थः-हे गौतम ! उत्तम पुरुष जो होता है वह सदैव वसुधैव कुटुम्बकम् जैसी भावना रखता हुआ वाचा के द्वारा भी यों बोलेगा कि सब ही जीव क्या छोटे और बड़े उन से क्षमा याचता हूं। अतः वे मेरे अपराध को क्षमा करें। चाहे जिस जाति व कुल का हो उन सबों में मेरी मैत्री भावना है। भले ही वे मेरे अपराधी क्यों न हों, तदपि उन जीवों के साथ मेरा किसी भी प्रकार वैर विरोध नहीं है। बस, उस के लिए फिर मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है ।

मूलः—अगारिसामाइअंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगराइं न हावए ॥६॥

छायाः-आगारिसामायिकांगानि,
श्रद्धी कायेन स्पृशति ।
औषधमुभयोः पक्षयोः,
एकरात्रं न हापयेत् ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सड्ढी) श्रद्धावान् (अगारि) गृहस्थी (सामाइअंगाइं) सामायिक के अंगों को (काएणं) काया के द्वारा (फासए) स्पर्श करे,, और (दुहओ) दोनों (पक्खं) पक्ष को (पोसहं) पौषध करने में (एगराइं) एक रात्रि की भी (न) नहीं (हावए) न्यूनता करे।

भावार्थः—हे आर्य! जो गृहस्थ है, और अपना गृहस्थ-धर्म पालन करता है, वह श्रद्धावान् गृहस्थ सामायिक भाव

के अंगों की अर्थात् समता शान्ति आदि गुणों की मन, वचन, काया के द्वारा अभ्यास के साथ अभिवृद्धि करता रहे। और कृष्ण शुक्ल दोनों पक्षों में कम से कम छः पौषध करने में तो न्यूनता एक रात्रि की भी कभी न करे।

मूलः—एवं सिक्खासमावरणे, गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥७॥

छायाः—एवं शिक्षासमापन्नः, गृहिवासेऽपि सुव्रतः।
मुच्यते छविःपर्वणो, गच्छेद् यक्षसलोकताम् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (एवं) इस प्रकार (सिक्खा-समावरणे) शिक्षा से युक्त गृहस्थ (गिहिवासे वि) गृह वास में भी (सुव्वए) अच्छे व्रत वाला होता है। और वह अन्तिम समय में (छविपव्वाओ) चमड़ी और हड्डी वाले शरीर को (मुच्चई) छोड़ता है। और (जक्खसलोगयं) यक्ष देवता के सदृश स्वर्गलोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थः—हे गौतम! इस प्रकार जो गृहस्थ अपने सदाचार रूप गृहस्थ धर्म का पालन करता है, वह गृहस्थाश्रम में भी अच्छे व्रतवाला संयमी होता है। इस प्रकार गृहस्थ धर्म के पालते हुए यदि उसका अन्तिम समय भी आ जाय तो भी हड्डी, चमड़ी और मांस निर्मित इस औदारिक *

* External physical body having flesh, blood and bone

शरीर को छोड़ कर यक्ष देवताओं के सदृश देवलोक को प्राप्त होता है।

मूलः–दीहाउया इड्ढिमंता, समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥८॥

छायाः–दीर्घायुषः ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः।
अधुनोत्पन्नसंकाशाः, भूयोऽर्चिमालिप्रभाः ॥८॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! जो गृहस्थ-धर्म पालन कर स्वर्ग में जाते हैं वे वहाँ (दीहाउया) दीर्घायु (इड्ढिमंता ऋद्धिमान् (समिद्धा) समृद्धिशाली (कामरूविणो) इच्छानुसार रुप बनाने वाले (अहुणोववन्नसंकासा) मानो तत्काल ही जन्म लिया हो जैसे (भुज्जोअच्चिमालिप्पभा) और अनेकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान् होते हैं।

भावार्थः–हे गौतम ! जो गृहस्थ गृहस्थ—धर्म पालते हुए नीति के साथ अपना जीवन बिताते हुए स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, वे वहाँ दीर्घायु, ऋद्धिमान्, समृद्धिशाली, इच्छानुकूल रूप बनाने की शक्तियुक्त तत्काल के जन्मे हुए जैसे, और अनेकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान् होते हैं।

मूलः–ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खिता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संतिपरिनिव्वुडा ॥९॥

छायाः–तानि स्थानानि गच्छन्ति,
शिक्षित्वा संयमं तपः।

भिक्षुका वा गृहस्था वा,
ये सन्ति परिनिवृताः ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (संतिपरिनिव्वुडाः) शान्ति के द्वारा चहुँ ओर से संताप रहित(जे)जो (भिक्खाए) भिक्षु (वा) अथवा (गिहत्थे) गृहस्थ हों (संजमं) संयम (तवं) तप को (सिक्खित्ता) अभ्यास करके (ताणि) उन दिव्य (ठाणाणि) स्थानों को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! क्षमा के द्वारा सकल संतापों से रहित होने पर साधु हो या गृहस्थ चाहे जो हो, जाति पाँति का यहाँ कोई गौरव नहीं है। संयमी जीवन वाला और तपस्वी हो वही दिव्य स्वर्ग में जाता है।

मूलः-बहिया उड्ढमादाय, नाकंक्खे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥१०॥

छायाः-बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकांक्षेत् कदापि च।
पूर्वकर्मक्षयार्थं, इमं देहं समुद्धरेत् ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (बहिया) संसार से बाहर (उड्ढ) ऊर्ध्व, ऐसे मोक्ष की अभिलाषा (आदाय) ग्रहण कर (कयाइ वि) कभी भी (नाकंक्खे) विषयादि सेवन की इच्छा न करे, और (पुव्वकम्मक्खयट्ठाए) पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करने के लिए (इमं) इस (देहं) मानव शरीर को (समुद्धरे) निर्दोष वृत्ति से धारण करके रक्खे।

भावार्थः-हे गौतम ! संसार से परे जो मोक्ष है, उसको लक्ष्य में रख कर के कभी भी कोई विषयादि सेवन की इच्छा न करे। और पूर्व के अनेक भवों में किये हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस शरीर का, निर्दोष आहारादि से पालन पोषण करता हुआ अपने मानव जन्म को सफल बनावे।

मूलः-दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥११॥

छायाः-दुर्लभस्तु मुधादायी,
मुधाजीव्यपि दुर्लभः ।
मुधादायी मुधाजीवी,
द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥ ११ ॥

भावार्थः-हे इन्द्रभूति ! (मुहादाई) स्वार्थ रहित भावना से देने वाला व्यक्ति (दुल्लहा) दुर्लभ है (उ) और (मुहाजीवी) स्वार्थ रहित भावना से दिये हुए भोजन के द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले (वि) भी (दुल्लहा) दुर्लभ है, (मुहादाई) ऐसा देने वाला और (मुहाजीवी) ऐसा लेने वाला (दो वि) दोनों ही (सोग्गइं) सुगति को (गच्छंति) जाते हैं।

अन्वयार्थः-हे गौतम ! नाना प्रकार के ऐहिक सुख प्राप्त होने की स्वार्थ रहित भावना से जो दान देता है, ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ ही है। और देने वाले का किसी भी

प्रकार संबंध व कार्य न करके उस से निस्स्वार्थ ही भोजन ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह करते हों, ऐसे महान् पुरुष भी कम हैं। अतएव विना स्वार्थ से देने वाला मुहादाई[1] और निस्पृह भाव से लेने वाला मुहाजीवी[2] दोनों ही सुगति में जाते हैं।

मूलः-संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥१२॥

छाया:-सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः,
गृहस्थाः संयमोत्तराः।
अगारस्थेभ्यः सर्वेभ्यः,
साधवः संयमोत्तराः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (एगेहिं) कितनेक (भिक्खूहिं) शिथिल साधुओं से (गारत्था) गृहस्थ (संजमुत्तरा) संयमी जीवन बिताने में अच्छे (संति) होते हैं। (य) और (सव्वेहिं) देश विरति वाले सब (गारत्थेहिं) गृहस्थों से (संजमुत्तरा) निर्दोष संयम पालने वाले श्रेष्ठ हैं।

भावार्थः-हे आर्य! कितनेक शिथिलाचारी साधुओं से गृहस्थ धर्म पालने वाले गृहस्थ भी अच्छे होते हैं। जो अपने नियमों को निर्दोष रूप से पालन करते रहते हैं। और

1-Maintaining oneself without doing any service.
2-Giving without getting any thing in return.

निर्दोष संयम पालने वाले जो साधु है, वे देश विरतिवाले सब गृहस्थों से बढ़कर है।

मूलः-चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न ताइंति, दुस्सीलं परियागयं ॥१३॥

छायाः-चीराजिनं नग्नत्वं जटित्वं संघाटित्वमुण्डत्वम्।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यायगतम् ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति । (दुस्सीलं) दुराचारका धारक (चीराजिणं) केवल वल्कल और चर्म के वस्त्र वाला (नगिणिणं) नग्न अवस्थापन्न (जडी) जटाधारी (संघाडि) वस्त्र के टुकड़े साँध साँध कर पहनने वाला (मुंडिणं) केसों का मुंडन या लोच करने वाला (एयाणि) ये सब (परियागयं) दीक्षा धारण कर के भी (न) नहीं (ताइंति) रक्षित होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! संयमी जीवन बिताये बिना केवल दरख़्तों की छाल के वस्त्र पहनने से या किसी किस्म के चर्म के वस्त्र पहनने से, अथवा नग्न रहने से, अथवा जटाधारण करने से, अथवा फटे टूटे कपड़ों के टुकड़ों को सीकर पहनने से, और केसों का मुण्डन व लोचन करने से कभी मुक्ति नहीं होती है। इस प्रकार भले ही वह साधु कहलाता हो, पर वह दुराचारी न तो अपना स्वतः का रक्षण कर पाता है, और न औरों ही का। अतः स्व-पर कल्याण के लिए शील-सम्यक् चारित्र का पालन करना ही-श्रेयस्कर है।

मूलः—अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१४॥

छायाः—अस्तंगत आदित्ये, पुरस्ताच्यानुद्गते ।
आहारमादिकं सर्वं,मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आइच्चे) सूर्य (अत्थंगयंमि) अस्त होने पर (य) और (पुरत्था) पूर्व दिशा में (अणुग्गए) उदय नहीं हो वहाँ तक (आहारमाइयं) आहार आदि (सव्वं) सब को (मणसा) मन से (वि) भी (न) न (पत्थए) चाहे ।

भावार्थः—हे गौतम ! सूर्य अस्त होने के पश्चात् जब तक फिर पूर्व दिशा में सूर्य उदय न हो जावे उस के बीच के समय में गृहस्थ सब तरह के पेय अपेय पदार्थों को खाने पीने की मन से भी कभी इच्छा न करे ।

मूलः—जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंतमलपावगं ।
रागदोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥१५॥

छायाः—जातरूप यथ भृष्टं निध्मातमलपापकम् ।
रागद्वेष भयातीतं,तं वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (मट्ठं) कसौटी पर कसा हुआ और (निद्धंतमलपावगं) अग्नि से नष्ट किया है मल को जिस के ऐसा (जायरूवं) सुवर्ण गुण युक्त

होता है। वैसे ही जो (रागद्दोसभयातीतं) राग, द्वेष, और भय से रहित हो (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार कसौटी पर कसा हुआ एवं अग्नि के ताप से दूर हो गया है मैल जिसका ऐसा सुवर्ण ही वास्तव में सुवर्ण होता है। इसी तरह निर्मोह और शान्ति रूप कसौटी पर कसा हुआ तथा ज्ञान रूप अग्नि से जिसका राग द्वेष रूप मैल दूर हो गया हो उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलः—तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥१६॥

छायाः—तपस्विनं कृशं दान्तं,
अपचितमांस शोणितम्।
सुव्रतं प्राप्त निर्वाणं,
तं वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो (तवस्सियं) तपस्या करने वाला हो, जिससे वह (किसं) दुर्बल हो रहा हो (दंतं) इन्द्रियों को दमन करने वाला हो, जिससे (अवचियमंससोणिअं) सूख गया है माँस और खून जिसका, (सुव्वयं) व्रत नियम सुन्दर पालता हो (पत्तनिव्वाणं) जो तृष्णा रहित हो (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं।

भावार्थः–हे गौतम ! तप करने से जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो, इन्द्रियों का दमन करने से लोहू, माँस जिसका सूख गया हो, व्रत नियमों का सुन्दर रूप से पालन करने के कारण जिसका स्वभाव शान्त हो गया हो, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलः–जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥१७॥

छायाः–यथा पद्मं जले जातम् ,नोपलिप्यते वारिणा ।
एवमलिप्तं कामैः,तं वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ।१७।

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पोमं) कमल (जले) जल में (जायं) उत्पन्न होता है तो भी (वारिणा) जल से (नोवलिप्पइ) वह लिप्त नहीं होता है (एवं) ऐसे ही जो (कामेहिं) काम भोगों से (अलित्तं) अलिप्त है (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण कहते हैं ।

भावार्थः–हे गौतम ! जैसे कमल जल में उत्पन्न होता है, पर जल से सदा अलिप्त रहता है, इसी तरह कामभोगों से उत्पन्न होने पर भी विषय-वासना सेवन से जो सदा दूर रहता है, वह किसी भी जाति व कौम का क्यों न हो, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं ।

मूलः–न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं,कुसचीरेण न तावसो ॥१८॥

छाया:--नाऽपि मुण्डितेन श्रमणा,
न ओंकारेण ब्राह्मणः ।
न मुनिररण्यवासेन,
कुशचीरेण न तापसः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (मुंडिएण) मुंडन व लोचन करने से (समणो) श्रमण (न) नहीं होता है । और (ओंकारेण) ओंकार शब्द मात्र जप लेने से (बंभणो) कोई ब्राह्मण (वि) भी (न) नहीं हो सकता है । इसी तरह (रण्णवासेणं) अटवी में रहने से (मुणी) मुनि (न) नहीं होता है । (कुसचीरेण) दर्भ के वस्त्र पहनने से (तावसो) तपस्वी (न) नहीं होता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! केवल सिर मुंडाने से या लोचन मात्र करने से ही कोई साधु नहीं बन जाता है । और न ओंकार शब्द मात्र के रटने से ही कोई ब्राह्मण हो सकता है । इसी तरह केवल सघन अटवी में निवास करलेने से ही कोई मुनि नहीं हो सकता है । और न केवल घास विशेष अर्थात् दर्भ का कपड़ा पहन लेने से तपस्वी बन सकता है ।

मूलः--समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥ १९ ॥

छायाः--समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (समयाए) शत्रु और मित्र पर समभाव रखने से (समणो) श्रमण-साधु (होइ) होता है। (बंभचेरेण) ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने से(बंभणो) ब्राह्मण होता है (य) और इसी तरह (नाणेणं) ज्ञान सम्पादन करने से (मुणी) मुनि (होइ) होता है, एवं (तवेणं) तप करने से (तावसो) तपस्वी (होइ) होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! सर्व प्राणी मात्र, फिर चाहे वे शत्रु जैसा वर्त्ताव करते हों या मित्र जैसा,ब्राह्मण,श्वःपाक,चाहे जो व्यक्ति हों, उन सभी को समदृष्टि से जो देखता हो, वही साधु है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला किसी भी कौम का हो, वह ब्राह्मण ही है, इसी तरह सम्यक् ज्ञान सम्पादन कर के उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला ही मुनि है। ऐहिक सुखों की वाँछा रहित बिना किसी को कष्ट दिये जो तप करता है, वही तपस्वी है।

मूलः—कम्मुणा बंभणो होइ,कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥२०॥

छायाः- कर्मणा ब्राह्मणो भवति,
कर्मणा भवति क्षत्रियः।
वैश्यः कर्मणा भवति,
शूद्रो भवति कर्मणा ॥ २० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (कम्मुणा) क्षमादि अनु-

ष्ठान करने से (बंभणो) ब्राह्मण (होइ) होता है, और (कम्मुणा) पर पीड़ाहरन व रक्षादि कार्य करने से (खत्तिओ) क्षत्री (होइ) होता है । इसी तरह (कम्मुणा) नीति पूर्वक व्यवहार कर्म करने से (वइसो) वैश्य (होइ) होता है । और (कम्मुणा) दूसरों को कष्ट पहुँचाने रूप कार्य जो करे वह (सुद्दो) शूद्र (हवइ) होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! चाहे जिस जाति व कुल का मनुष्य क्यों न हो, जो क्षमा, सत्य, शील तप आदि सदनुष्ठान रूप कर्मों का कर्त्ता होता है, वही ब्राह्मण है । केवल छापा तिलक कर लेने से ब्राह्मण नहीं हो सकता है। और जो भय, दुःख, आदि से मनुष्यों को मुक्त करने का कर्म करता है, वही क्षत्रिय अर्थात् राजपूत्र है । अन्याय पूर्वक राज करने से तथा शिकार खेलने से कोई भी व्यक्ति आज तक क्षत्रिय नहीं बना । इसी तरह नीति पूर्वक जो व्यापार करने का कर्म करता है वही वैश्य है । नापने, तौलने, लेन, देन, आदि सभी में अनीति पूर्वक व्यवहार कर लेने मात्र से कोई वैश्य नहीं हो सकता है । और जो दूसरों को संताप पहुँचाने वाले ही कर्मों को करता रहता है वही शूद्र है ।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥



ॐ

निर्ग्रंथ-प्रवचन ।

(अध्याय आठवां)

ब्रह्मचर्य निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, तेसिं इंदियदरिसणं ॥ १ ॥
कूइअं रुइअं गीअं, हासभुत्तासिआणि अ ।
पणीअं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोअणं ॥२॥
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ३ ॥

छायाः—आलयः स्त्रीजनाकीर्णः, स्त्रीकथा च मनोरमा ।
संस्तवश्चैव नारीणाम्, तासामिन्द्रियदर्शनम् ॥१॥
कूजितं रुदितं गीतं, हास्यभुक्तासितानि च ।
प्रणीतं भक्तपानं च, अतिमात्रं पानभोजनम् ॥२॥
गात्र भूषणमिष्टं च, कामभोगाश्च दुर्जयाः ।
नरस्यात्मगवेषिणः, विषं तालपुटं यथा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (थीजणाइण्णो) स्त्री जन सहित (आलओ) मकान में रहना (य) और (मणोरमा) मन-रमणीय (थीकहा) स्त्री-कथा कहना (चेव) और (नारीणं) स्त्रियों के (संथवो) संस्तव अर्थात् एक आसन पर बैठना (चेअ) और (तेसिं) स्त्रियों का (इंदियदरिसणं) अङ्गोपाङ्ग देखना, ये ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध है। (अ) और (कूइअं) कूँजित (रुइअं) रुदित (गीअं) गीत (हास) हास्य वगैरह (भुत्तासि- आणि) स्त्रियों के साथ पूर्व में जो काम चेष्टा की है, उसका स्मरण (च) और नित्य (पणीअं) स्निग्ध (भत्तपाणं) आहार पानी एवं (अइमायं) परिमाण से अधिक (पाण- भोअणं) आहार पानी का खाना पीना (च) और (इट्ठं) प्रियकारी (गत्तभूसणं) शरीर शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध हैं । क्योंकि (दुज्जया) जीतने में कठिन हैं ऐसे ये (कामभोगा) कामभोग (अत्त- गवेसिस्स) आत्मगवेषी ब्रह्मचारी (नरस्स) मनुष्य के (तालउडं) तालपुट (विसं) ज़हर के (जहा) समान हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! स्त्री व नपुंसक (हींजड़े) जहां रहते हों वहां ब्रह्मचारी को नहा रहना चाहिए। स्त्रियों की कथा का कहना, स्त्रियों के आसन पर बैठना, उन के अंगो- पाङ्गों को देखना, भींत, प्रेच, टाटी के अन्तर पर स्त्री पुरुष सोते हुए हों वहाँ ब्रह्मचारी को नहीं सोना चाहिए। और जो पूर्व में स्त्रियों के साथ काम चेष्टा की है उसका स्मरण करना, नित्यप्रति स्निग्ध भोजन करना, परिमाण से अधिक भोजन करना, एवं शरीर की शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचा-

रियों के लिए निषिद्ध है। क्योंकि ये दुर्जयी काम भोग ब्रह्मचारी के लिए तालपुट ज़हर के समान होते हैं।

मूलः-जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥४॥

छायाः-यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्यं कुललतो भयम्।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (कुक्कुडपोअस्स) मुर्गी के बच्चे को (निच्चं) हमेशा (कुललओ) बिल्ली से (भयं) भय रहता है। (एवं) इसी प्रकार (खु) निश्चय करके (बंभयारिस्स) ब्रह्मचारी को (इत्थीविग्गहओ) स्त्री-शरीर से (भयं) भय बना रहता है।

भावार्थः-हे गौतम! ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों की विषय जनित वार्तालाप तथा स्त्रियों का संसर्ग करना आदि जो निषेध किया है, वह इसलिए है कि जैसे मुर्गी के बच्चे को सदैव बिल्ली से प्राणवध का भय रहता है, अतः अपनी प्राण रक्षा के लिए वह उससे बचता रहता है। उसी तरह ब्रह्मचारियों को स्त्रियों के संसर्ग से अपने ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का भय सदा रहता है। अतः उन्हें स्त्रियों से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए।

मूलः-जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।

एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥ ५ ॥

छायाः--यथा बिडालावसथस्य मूले,
न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता ।
एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये,
न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः ॥५॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (विराला-वसहस्स) बिलावों के रहने के स्थानों के (मूले) समीप में (मूसगाणं) चूहों का (वसही) रहना (पसत्था) अच्छा-कल्याण कर (न) नहीं है (एमेव) इसी तरह (इत्थी-निलयस्स) स्त्रियों के निवास स्थान के (मज्झे) मध्य में (बम्भयारिस्स) ब्रह्मचारियों का (निवासो) रहना (खमो) योग्य (न) नहीं है ।

भावार्थः--हे आर्य ! जिस प्रकार बिलावों के निवास स्थानों के समीप चूहों का रहना बिलकुल योग्य नहीं अर्थात् खतरनाक है । इसी तरह स्त्रियों के रहने के स्थान के समीप ब्रह्मचारियों का रहना भी उनके लिए योग्य नहीं है ।

मूलः--हत्थपायपडिछिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं ।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥६॥

छायाः--हस्तपादप्रतिच्छिन्नां,
कर्णनासाविकल्पिताम् ।

वर्षशतिकामपि नारीं,
ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (हत्थपायपडिछिन्नं)हाथ पाँव छेदे हुए हों, (कन्ननासविगप्पिअं) कान, नासिका, विकृत आकार के हों ऐसी (वाससयं) सौ वर्ष वाली (अवि) भी (नारिं) स्त्री का संसर्ग (बंभयारी) ब्रह्मचारी (विज्जए) छोड़दे ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसके हाथ पैर कटे हुए हों, कान नाक खराब आकार वाले हों, और अवस्था में सौ वर्ष वाली हो, तो भी ऐसी स्त्री के साथ संसर्ग परिचय करना, ब्रह्मचारियों के लिए परित्याज्य है ।

मूलः-अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविअपेहिअं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥७॥

छायाः-अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं,
च रुल्लापितप्रेक्षितम् ।
स्त्रीणां तन्न निध्यायेत्,
कामरागविवर्धनम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! ब्रह्मचारी (कामरागविवड्ढणं) काम राग आदि को बढ़ाने वाले ऐसे(इत्थीणं)स्त्रियों के (तं) तत्संबंधी (अंगपच्चंगसंठाणं) सिर नयन आदि आकार प्रकार और (चारुल्लविअपेहिअं) सुन्दर बोलने का ढंग एवं नयनों के कटाक्ष बाण की ओर (न) न (निज्झाए) देखे।

भावार्थः--हे गौतम ! ब्रह्मचारियों को कामराग बढ़ाने वाले जो स्त्रियों के हाथ पाँव, आँख, नाक, मुँह आदि के आकार प्रकार हैं उनकी ओर, एवं स्त्रियों के सुन्दर बोलने की ढब तथा उनके नयनों के तीक्ष्ण बाणों की ओर कदापि न देखना चाहिए।

मूलः—णो रक्खसीसु गिज्झिज्जा,
गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता,
खेलंति जहा वा दासेहिं ॥८॥

छायाः-- न राक्षसीषु गृध्येत्,
गण्डवक्षस्स्वनेकचित्तासु ।
याः पुरुषं प्रलोभ्य,
क्रीडन्ति यथा दासैरिव ॥८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! ब्रह्मचारी को (गंडवच्छासु) फोड़े के समान वक्षस्थल वाली (अणेगचित्तासु) चंचल चित्त वाली (रक्खसीसु) राक्षसी स्त्रियों में (णो) नहीं (गिज्झिज्जा) गृद्धि होना चाहिए, क्योंकि (जाओ) जो स्त्रियाँ (पुरिसं) पुरुष को (पलोभित्ता) प्रलोभित कर के (जहा) जैसे (दासेहिं) दास की (वा) तरह (खेलंति) क्रीड़ा कराती हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! ब्रह्मचारियों को फोड़े के समान स्तनवाली, एवं चंचल चित्तवाली, जो बातें तो किसी

दूसरे से करे, और देखे दूसरे ही की ओर ऐसी अनेक चित्त वाली, राक्षसियों के समान स्त्रियों में कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे स्त्रियाँ मनुष्यों को विषय वासना का प्रलोभन दिखा कर अपनी अनेक आज्ञाओं का पालन कराने में उन्हें दासों की भांति दत्तचित्त रखती हैं।

मूलः-भोगामिसदोसविसन्ने,
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे,
बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥६॥

छायाः-भोगामिषदोषविषण्णः,
हितनिश्रेयसबुद्धि विपर्यस्तः ।
बालश्च मन्दो मूढः,
बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (भोगामिसदोसविसन्ने) भोग रूप माँस जो आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है, उस में आसक्त होने वाले तथा (हियनिस्सेयसबुद्धि-वोच्चत्थे) हित कारक जो मोक्ष है उसको प्राप्त करने की जो बुद्धि है उस से विपरीत वर्ताव करने वाले (य) और (मंदिए) धर्म-क्रिया में आलसी (मूढे) मोह में लिप्त (बाले) ऐसे अज्ञानी जीव कर्मों में बंध जाते हैं और (खेलम्मि) श्लेष-कफ में (मच्छिआ) मक्खी की (व) तरह (बज्झई) फँस जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! विषय वासना रूप जो मांस है, यही आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है । इस में आसक्त होने वाले, तथा हितकारी जो मोक्ष है उस के साधन की बुद्धि से विमुख, और धर्म करने में आलसी तथा मोह में लिप्त हो जाने वाले अज्ञानी जन अपने गाढ कर्मों में जैसे मक्खी श्लेष (कफ़) में लिपट जाती है वैसे ही फँस जाते हैं ।

मूलः-सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥१०॥

छायाः-शल्यं कामा विषं कामाः,
कामा आशी विषोपमाः ।
कामान् प्रार्थयमाना,
अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (कामा) काम भोग (सल्लं) कांटे के समान है (कामा) कामभोग (विसं) विष के समान है (कामा) कामभोग (आसीविसोवमा) दृष्टि-विष सर्प के समान है, (कामे) कामभोगों की (पत्थेमाणा) इच्छा करने पर (अकामा) विना ही विषय वासना सेवन किये यह जीव (दुग्गइं) दुर्गति को (जंति) प्राप्त होता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! यह काम भोग चुभने वाले तीक्ष्ण कांटे के समान हैं, विषय वासना का सेवन करना

तो बहुत ही दूर रहा पर उसकी इच्छा मात्र करने ही में मनुष्यों की दुर्गति होती है ।

मूलः-खणमेत्तसुक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अनिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥११॥

छाया-क्षणमात्रसौख्या बहुकाल दुःखाः,
प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः,
खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (कामभोगा) ये काम भोग (खणमेत्तसुक्खा) क्षण भर-सुख देने वाले हैं, पर (बहुकालदुक्खा) बहुत काल तक के लिए दुख रूप हो जाते हैं । अतः ये विषय भोग (पगामदुक्खा) अत्यन्त दुख देने वाले और (अनिगामसुक्खा) अत्यल्प सुख के दाता हैं । (संसारमोक्खस्स) संसार से मुक्त होने वालों को ये (विपक्खभूया) विपक्षभूत अर्थात् शत्रु के समान हैं। और (अणत्थाण) अनर्थों की (खाणी उ) खदान के समान हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! ये काम भोग केवल सेवन करते समय ही क्षणिक सुखों के देने वाले हैं । और भविष्य में वे बहुत अर्से तक दुखदायी होते हैं । इसलिए हे गौतम !

ये भोग अत्यन्त दुख के कारण हैं ; सुख जो इनके द्वारा प्राप्त होता है वह तो अत्यल्प ही होता है। फिर ये भोग संसार से मुक्त होने वाले के लिए पूरे पूरे शत्रु के समान होते हैं। और सम्पूर्ण अनर्थों को पैदा करने वाले हैं।

मूलः—जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो॥१२॥

छाया—यथा किम्पाकफलानां,
परिणामो न सुन्दरः।
एवं भुक्तानां भोगानां,
परिणामो न सुन्दरः॥ १२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (किंपागफलाणं) किंपाक नामक फलों के खाने का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नहीं है, (एवं) इसी तरह (भुत्ताण) भोगे हुए (भोगाणं) भोगों का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नहीं होता है।

भावार्थः—हे आर्य ! किंपाक नाम के फल खाने में स्वादिष्ट, सूंघने में सुगंधित, और आकार प्रकार से भी मनोहर होते हैं तथापि खाने के बाद वे फल हलाहल ज़हर का काम करते हैं। इसी तरह ये भोग भी भोगते समय तो क्षणिक सुख को दे देते हैं। परन्तु उस के पश्चात् ये चौरासी की चक्रफेरी में दुखों का समुद्र रूप हो सामने आड़े आ जाते हैं। उस समय इस आत्मा को बड़ा ही पश्चात्ताप करना पड़ता है।

मूलः-दुपरिच्चया इमे कामा,
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू,
जे तरंति अतरं वणिया वा ॥१३॥

छायाः-दुःपरित्याज्या इमे कामाः,
न सुत्यजा अधीरपुरुषैः।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः,
ये तरन्त्यतरं वणिके नैव ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (इमे) ये (कामा) कामभोग (दुपरिच्चया) मनुष्यों द्वारा बड़ी ही कठिनता से छूटने वाले होते हैं, ऐसे भोग (अधीरपुरिसेहिं) कायर पुरुषों से तो (नो) नहीं (सुजहा) सुगमता से छोड़े जा सकते हैं। (अः) परन्तु (सुव्वया) सुव्रत वाले (साहू) अच्छे पुरुष जो (संति) होते हैं (जे) वे (अतरं) तिरने में कठिन ऐसे भव समुद्र को भी (वणियो) वणिक की (वा) तरह (तरंति) तिर जाते हैं।

भावार्थः--हे गौतम! इन काम भोगों को छोड़ने में जब बुद्धिमान् मनुष्य भी बड़ी कठिनाइयां उठाते हैं, तब फिर कायर पुरुष तो इन्हें सुलभता से छोड़ ही कैसे सकते हैं। अतः जो शूर वीर और धीर पुरुष होते हैं, वे ही इस काम भोग रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं। उसी प्रकार संयम आदि व्रत नियमों की धारणा करने वाले पुरुष ही ब्रह्मचर्य रूप ज़हाज के द्वारा संसार रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं।

मूलः-उवलेवो होइ भोगेसु,
अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे,
अभोगी विप्पमुच्चई ॥ १४ ॥

छायाः--उपलेपो भवति भोगेषु,
अभोगी नोपलिप्यते ।
भोगी भ्रमति संसारे,
अभोगी विप्रमुच्यते ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (भोगेसु) भोग भोगने से कर्मों का (उवलेवो) उपलेप (होइ) होता है । और (अभोगी) अभोगी (नोवलिप्पई) कर्मों से लिप्त नहीं होता है । (भोगी) विषय सेवन करने वाला (संसारे) संसार में (भमइ) भ्रमण करता है । और (अभोगी) विषय सेवन नहीं करने वाला (विप्पमुच्चई) कर्मों से मुक्त होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! विषय वासना सेवन करने से आत्मा कर्मों के बंधन से बँध जाती है । और उसको त्यागने से वह अलिप्त रहती है । अतः जो काम भोगों को सेवन करते हैं वे संसार-चक्र में गोता लगाते रहते हैं; और जो इन्हें त्याग देते हैं; वे कर्मों से मुक्त हो कर अटल सुखों के धाम पर जा पहुँचते हैं ।

मूलः—मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिस्सं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१५॥

छायाः-मोक्षाभिकांक्षिणोऽपि मानवस्य,
संसारभीरोः स्थितस्य धर्मे।
नैतादृशं दुस्तरमस्ति लोके,
यथा स्त्रियो बाल मनोहराः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (मोक्खाभिकंखिस्स) मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले (संसारभीरुस्स) संसार में जन्म मरण करने से डरने वाले और (धम्मे) धर्म में (ठियस्स) स्थिर है आत्मा जिनकी ऐसे (माणवस्स) मनुष्य को (वि) भी (जहा) जैसे (बालमणोहराओ) मूर्खों के मन को हरण करने वाली (इत्थिओ) स्त्रियों से दूर रहना कठिन है, तब (एयारिसं) ऐसे (लोए) लोक में (दुत्तरं) विषय रूप समुद्र को लाघ जाने के समान दूसरा कोई कार्य कठिन (न) नहीं (अत्थि) है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मोक्ष की अभिलाषा रखते हैं, और जन्म मरणों से भयभीत होते हुए धर्म में अपने आत्मा को स्थिर किये रहते हैं, ऐसे मनुष्यों को भी मूर्खों के मनरंजन करने वाली स्त्रियों के कटाक्षों को निष्फल करने के समान इस लोक में दूसरा कोई कठिन कार्य नहीं

है। तात्पर्य यह है कि संयमी पुरुषों को इस विषय में सदैव जागरूक रहना चाहिए।

मूलः--एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१६॥

छायाः-एतांश्च संगान् समतिक्रम्य,
सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः ।
यथा महासागरमुत्तीर्य,
नदी भवेदपि गंगासमाना ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति (एए य) इस (संगे) स्त्री-प्रसंग को (समइक्कमित्ता) छोड़ने पर (सेसा) अवशेष धनादि का छोड़ना (चेव) निश्चय करके (सहुत्तरा) सुगमता से (भवंति) होता है (जहा) जैसे (महासागरं) मोटा समुद्र (उत्तरित्ता) तिर जाने पर (गंगासमाणा) गंगा के समान (नई) नदी (श्रवि) भी (भवे) सुख से पार की जा सकती है।

भावार्थः-हे इन्द्रभूति ! जिसने स्त्री-संभोग का परित्याग कर दिया है उसको अवशेष धनादि के त्यागने में कोई भी कठिनाई नहीं होती, अर्थात्-शीघ्र ही वह दूसरे प्रपंचों से भी अलग हो सकता है। जैसे-कि महासागर के परले

पार जाने वाले के लिए गंगा नदी को लांघना कोई कठिन कार्य नहीं होता।

मूलः कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइअं माणसिअं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥ १७ ॥

छायाः--कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखं,
सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत् कायिकं मानसिकं च किञ्चित्,
तस्मान्तिकं गच्छति वीतरागः ॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सदेवगस्स) देवता सहित (सव्वस्स) सम्पूर्ण (लोगस्स) लोक के प्राणी मात्र को (कामाणुगिद्धिप्पभवं) काम भोग की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला (खु) ही, (दुक्खं) दुख लगा हुआ है (जं) जो (काइअं) कायिक (च) और (माणसिअं) मानसिक (किंचि) कोई भी दुख है (तस्स) उस के (अंतगं) अन्त को (वीयरागो) वीतराग पुरुष (गच्छइ) प्राप्त करता है।

भावार्थः--हे गौतम ! भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी आदि सभी तरह के देवताओं से लगाकर सम्पूर्णलोक के छोटे से प्राणी तक को काम भोगों की अभिलाषा से

उत्पन्न होने वाला दुख सताता रहता है । उस कायिक और मानसिक दुख का अन्त करने वाला केवल वही मनुष्य है, जिसने काम भोगों से सदा के लिए अपना मुंह मोड़ लिया है ।

मूलः-देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते ॥१८॥

छायाः-देवदानवगन्धर्वाः,
यक्षराक्षसकिन्नराः ।
ब्रह्मचारिणं नमस्यन्ति,
दुष्करं यः करोति तम् ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (दुक्करं) कठिनता से आचरण में आ सके ऐसे ब्रह्मचर्य को (जे) जो (करंति) पालन करते हैं (ते) उस (बम्भयारिं) ब्रह्मचारी को (देवदाणवगंधव्वा) देव, दानव, और गंधर्व (जक्खरक्खसकिंनरा) यक्ष, राक्षस, और किन्नर सभी तरह के देव (नमंसंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! इस महान् ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करता है, उसको देव दानव, गन्धर्व, यक्ष, रांत्तस, किन्नर आदि सभी देव नस्कार करते हैं । वह लोक में पूज्य हो जाता है ।

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

अध्याय नौवां

साधु धर्म निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-सव्वे जीवा वि इच्छंति,
जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं,
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥

छायाः-सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति,
जीवितु न मर्तुम् ।
तस्मात् प्राणिवध घोरं,
निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सव्वे) सभी (जीवा) जीव (जीविउं) जीने की (इच्छंति) इच्छा करते हैं (वि) और (मरिज्जिउं) मरने को कोई जीव (न) नहीं चाहता है। (तम्हा) इसलिए (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु (घोरं) रौद्र (पाणिवहं) प्राणीवध को (वज्जयंति) छोड़ते हैं। (णं) वाक्यालंकार।

भावार्थः--हे गौतम ! सब छोटे बड़े जीव जीने की इच्छा करते हैं, पर कोई मरने की इच्छा नहीं करते हैं। क्योंकि जीवित रहना सब को प्रिय है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु महान् दुख के हेतु प्राणी वध को आजीवन के लिए छोड़ देते हैं।

मूलः-मुसावाओ य लोगम्मि,
सव्वसाहूहि गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं,
तम्हा मोसं विवज्जए ॥२॥

छायाः-मृषावादश्च लोके,
सर्वसाधुभिर्गर्हितः।
अविश्वासश्च भूतानां,
तस्यान्मृषां विवर्जयेत् ॥२॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (लोगम्मि) इस लोक में (य) हिंसा के सिवाय और (मुसावाओ) मृषावाद को भी (सव्वसाहूहि) सब अच्छे पुरुषों ने (गरहिओ) निन्दनीय कहा है। (य) और इस मृषावाद से (भूयाणं) प्राणियों को (अविस्सासो) अविश्वास होता है। (तम्हा) इसलिए (मोसं) झूठ को (विवज्जए) छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम ! इस लोक में हिंसा के सिवाय और भी जो मृषावाद (झूठ) है, वह अच्छे पुरुषों के द्वारा

निन्दनीय बताया गया है। झूठ बोलने वाला अविश्वास का पात्र भी होता है। इसलिए साधु पुरुष झूठ बोलना आजीवन के लिए छोड़ देते हैं।

मूलः—चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥३॥

छायाः-चित्तवन्तमचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहुं।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहमयाचित्वा ॥३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अप्पं) अल्प (जइवा) अथवा (बहुं) बहुत (चित्तमंत) सचेतन (वा) अथवा (अचित्तं) अचेतन (दंतसोहणमेत्तंपि) दांत साफ करने का तिनका भी (अजाइया) याचे विना ग्रहण नहीं करते हैं। (उग्गहंसि) पडियारी वस्तु तक भी गृहस्थ के दिये विना वे नहीं लेते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! चेतन वस्तु जैसे शिष्य, अचेतन वस्तु वस्त्र, पात्र वगैरह यहां तक कि दांत कुचलने का तिनका वगैरह भी गृहस्थ के दिये विना साधु कभी ग्रहण नहीं करते हैं और अवग्रहिक पडियारी वस्तु * अर्थात् कुछ समय तक रखकर पीछी सौंपदे, उन चीज़ों को भी गृहस्थों के दिये विना साधु कभी नहीं लेते हैं।

मूलः—मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥४॥

---

* An article of use (for a monk) to be used for a time and then to be returned to its owner

छायाः-मूलमेतदधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम् ।
　　तस्मान्मैथुनसंसर्गं, निर्ग्रन्थाः परिवर्जयन्तितम् ॥४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एयं) यह (मेहुणसंसग्गं) मैथुन विषयक संसर्ग (अहम्मस्स) अधर्म का (मूलं) मूल है। और (महादोससमुस्सयं) महान् दूषित विचारों को अच्छी तरह से बढ़ाने वाला है। (तम्हा) इसलिए (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु मैथुन संसर्ग को (वज्जयंति) छोड़ देते हैं। (णं) वाक्यालंकार में।

भावार्थः-हे गौतम ! यह अब्रह्मचर्य अधर्म उत्पन्न कराने में परम कारण है। और हिंसा, झूठ, चोरी, कपट आदि महान् दोषों को खूब बढ़ाने वाला है। इसलिए मुनि-धर्म पालने वाले महापुरुष सब प्रकार से मैथुन संसर्ग का परित्याग कर देते हैं।

मूलः-लोभस्से समणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
　　जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ॥५॥

छायाः-लोभस्यैष अनुस्पर्शः,
　　　मन्येऽन्यतरामपि ।
　यः स्यात् सन्निधिं कामयेत्,
　　　गृही प्रव्रजितः न सः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (लोभस्स) लोभ की (एस) यह (अणुप्फासो) महत्ता है, कि (अन्नयरामवि) गुड, घी, शक्कर आदि में से कोई एक पदार्थ को भी (जे) जो साधु होकर (सिया) कदाचित् (सन्निहीकामे) अपने

पास रात भर रखने की इच्छा करले तो (से) वह (न) न तो (गिही) गृहस्थी है और न (पव्वइए) प्रव्रजित दीक्षित ही है, ऐसा तीर्थंकर (मन्ने) मानते है।

भावार्थः-हे गौतम ! लोभ, चारित्र के सम्पूर्ण गुणों को नाश करने वाला है; इसीलिए इस की इतनी महत्ता है। तीर्थंकरों ने ऐसा माना है; और कहा है, कि गुड़, घी, शक्कर आदि वस्तुओं में से किसी भी वस्तु को साधु हो कर कदाचित् अपने पास रात भर रखने की इच्छा मात्र करे या औरों के पास रखवा लेवे तो वह गृहस्थ भी नहीं है। क्योंकि उसके पहनने का वेष साधुका है और वह साधु भी नहीं है क्योंकि जो साधु होते हैं; उनके लिए उपरोक्त कोई भी चीजें रात में रखने की इच्छा मात्र भी करना मना है। अतएव साधु को दूसरे दिन के लिए खाने तक की कोई वस्तु का भी संग्रह करके न रखना चाहिए।

मूलः-जं पि वत्थं व पायं वा

कम्बलं पायपुंछणं।

तं पि संजमलज्जट्ठा,

धारेन्ति परिहिंति य ॥ ६ ॥

छायाः-यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा,

कम्बलं पादपुञ्छनम्।

तदपि संयमलज्जार्थम्,

धारयन्ति परिहरन्ति च ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (जं) जो (पि) भी (वत्थं) वस्त्र (व) अथवा (पायं) पात्र (वा) अथवा (कम्बलं) कम्बल (पायपुंच्छणं) पग पोंछने का वस्त्र (तं) उसको (पि) भी (संजमलज्जट्ठा) संजम लज्जा 'रक्षा' के लिए (धारेंति) लेते हैं (य) और (परिहिंति) पहनते हैं।

भावार्थः–हे गौतम! जब यह कह दिया कि कोई भी वस्तु नहीं रखना और वस्त्र पात्र वग़ैरह, साधु रखते हैं, तो भला लोभ संबंध में इस जगह सहज ही प्रश्न उठता है। किन्तु जो संयम रखने वाला साधु है, वह केवल संयम की रक्षा के हेतु वस्त्र पात्र वग़ैरह लेता है। और पहनता है। इसलिए संयम पालने के लिए उसके साधन वस्त्र, पात्र, वग़ैरह रखने में लोभ नहीं है क्योंकि मुनियों को उनमें ममता नहीं होती।

॥ सुधर्मोवाच ॥

मूलः–न सो परिग्गहो वुत्तो

नायपुत्तेण ताइणा।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो,

इइ वुत्तं महेसिणा ॥ ७ ॥

छायाः–न सः परिग्रह उक्तः,

ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा।

मूर्च्छापरिग्रह उक्तः,

इत्युक्तं महर्षिणा ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः–हे जम्बू! (सो) संयम की रक्षा के

लिए रक्खे हुए वस्त्र, पात्र, वगैरह हैं, उनको (परिग्गहो) परिग्रह (ताइणा) त्राता (नायपुत्तेण) महावीर (न) नहीं (वुत्तो) कहा है, किन्तु उन वस्तुओं पर (मुच्छा) मोह रखना वही (परिग्गहो) परिग्रह (वुत्तो) कहा जाता है (इइ) इस प्रकार (महेसिणा) तीर्थंकरों ने (वुत्तं) कहा है।

भावार्थः--हे जम्बू ! संयम को पालने के लिए जो वस्त्र, पात्र, वगैरह रक्खे जाते हैं, उनको तीर्थंकरों ने परिग्रह * नहीं कहा है। हां यदि वस्त्र, पात्र आदि पर ममत्व भाव हो, या वस्त्र-पात्र ही क्यों, अपने शरीर पर देखो न, इस पर भी ममत्व यदि हुआ, कि अवश्य वह परिग्रह के दोष से दूषित बन जाता है। और वह परिग्रह का दोष चारित्र के गुणों को नष्ट करने में सहायक होता है।

मूलः—एयं च दोसं दट्ठूणं,
नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति,
निग्गंथा राइभोयणं ॥ ८ ॥

छायाः-एतं च दोषं दृष्ट्वा,
ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
सर्वाहारं न भुञ्जते,
निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥ ८ ॥

*Attachment to man mon; the fifth Papasthanaka

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (च) और (एयं) इस (दोसं) दोस को (दट्ठूणं) देख कर (नायपुत्तेण) तीर्थंकर श्री महावीर ने (भासियं) कहा है । (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ जो हैं वे (सव्वहारं) सब प्रकार के आहार को (राइभोयणं) रात्रि के भोजन अर्थात् रात्रि में (नो) नहीं (भुंजंति) भोगते हैं ।

भावार्थः--हे गौतम ! रात्रि के समय भोजन करने में कई तरह के जीव भी खाने में आ जाते हैं । अतः उन जीवों की, भोजन करने वालों से हिंसा हो जाती है । और वे फिर कई तरह के रोग भी पैदा करते हैं । अतः रात्रि-भोजन करने में ऐसा दोष देख कर वीतरागों ने उपदेश किया है, कि जो निर्ग्रन्थ * होते हैं वे सब प्रकार से खाने पीने की कोई भी वस्तु का रात्रि में सेवन नहीं करते हैं ।

मूलः--पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥१॥

छायाः--पृथिवीं न खनेन्न खानयेत्
शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत् ।
अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितम् ,
तं न ज्वलेन्न ज्वालयेत् यः स भिक्षुः ॥१॥

* Possessionless or passionless ascetic.

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (पुढविं) पृथ्वी को स्वयं (न) नहीं (खणे) खोदे औरों से भी (न) न (खणावए) खुदवावे (सीओदगं) शीतोदक-सचितजल को (न) नहीं पीवे, औरों को भी (न) नहीं (पियावए) पिलावे; (जहा) जैसे (सुनिसियं) खूब अच्छी तरह तीक्ष्ण (सत्थं) शस्त्र होता है, उसी तरह (अगणि) अग्नि है (तं) उसको स्वयं (न) नहीं (जले) जलावे, औरों से भी (न) न (जलावए) जलवावे (स) वही (भिक्खू) साधु है।

भावार्थः--हे गौतम ! सर्वथा हिंसा से जो बचना चाहता है वह न स्वयं पृथ्वी को खोदे और न औरों से खुद-वावे। इसी तरह न सचित्त (जिस में जीव हो उस) जल को खुद पीवे और न औरों को पिलावे। उसी तरह न अग्नि को भी स्वयं प्रदीप्त करे और न औरों ही से प्रदीप्त करवावे बस, वही साधु है।

मूलः-अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ॥
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥

छायाः-अनिलेन न वीजयेत् न वीजायेत्,
हरितानि न न छिन्दयेन्नच्छेदयेत्।
बीजानि सदा विवर्जयन्,
सचित्तं नाहरेद् यः स भिक्षुः ॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (अनिलेण) वायु के हेतु पंखे को (न) नहीं (वीए) चलाता है, और (न) न औरों से ही (वीयावए) चलवाता है (हरियाणि) वनस्पतियों को स्वतः (न) नहीं (छिंदे) छेदता और (न) न औरों ही से (छिंदावए) छिद्‌वाता है, (वीयाणि) बीजों को छेदना (सया) सदा (विवज्जयंतो) छोड़ता हुआ (सचित्तं) सचित पदार्थ को जो (न) न (आहारए) खाता है । (स) वही (भिक्खू) साधु है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसने इन्द्रिय-जन्य सुखों की ओर से अपना मुँह मोड़ लिया है, वह कभी भी हवा के लिये पंखों का न तो स्वतः प्रयोग करता है और न औरों से उसका प्रयोग करवाता है । और पान, फल, फूल आदि वनस्पतियों का भक्षण छोड़ता हुआ, सचित्त * पदार्थों का कभी आहार नहीं करता, वही साधु है । तात्पर्य यह है कि साधु किसी भी प्रकार का हिंसाजनक आरंभ नहीं करते ।

मूलः-महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिण्डरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥

छायाः-मधुकरसमा बुद्धाः,
ये भवन्त्यनिश्रिताः ।
नानापिण्डरता दान्ताः,
तेनोच्यन्ते साधवः ॥११॥

* An animate thing; as water, flower, fruit, green grass etc.

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (महुकारसमा) जिस-प्रकार थोड़ा थोड़ा रस लेकर भ्रमर जीवन बिताते हैं, ऐसे ही (जे) जो (दंता) इन्द्रियों को जीतते हुए (नाणा-पिंडरया) नाना प्रकार के आहार में उद्वेग रहित रत रहने वाले हैं ऐसे (बुद्धा) तत्त्वज्ञ (अणिस्सिया) नेश्राय रहित (भवंति) होते हैं (तेण) इसी से उन्हें (साहुणो) साधु (वुच्चंति) कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर से थोड़ा थोड़ा रस लेकर अपना जीवन बिताता है। इसी तरह जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हुए तीखे कडुवे, मधुर, आदि नाना प्रकार के भोजनों में उद्वेग रहित होते हैं। तथा जो समय पर जैसा भी निर्दोष भोजन मिला, उसी को खाकर आनंद मय संयमी जीवन को अनेश्रित होकर बिताते हैं, उन्हीं को हे गौतम ! साधु कहते हैं।

मूलः-जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठइ ॥१२॥

छायाः-यो न वन्देत् न तस्मै कुप्येत्,
वन्दितो न समुत्कर्षेत्।
एवमन्वेषमानस्य,
श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो कोई गृहस्थ साधु को (न) नहीं (वंदे) वन्दना करता (से) वह साधु उस

गृहस्थ पर (न) न (कुप्पे) क्रोध करे, और (वंदिओ) वंदना करने पर (न) न (समुक्कसे) उत्कर्षता ही दिखावे (एवं) इस प्रकार (अन्नेसमाणस्स) गवेषणा करने वाले का (सामण्णं) श्रामण्य अर्थात् साधुता (अणुचिट्ठइ) रहता है।

भावार्थः-हे गौतम! साधु को कोई वन्दना करे या न करे तो उस गृहस्थ पर वह साधु क्रोधित न हो। साधुता के गुणों पर यदि कोई राजादि मुग्ध हो जाय, और वह वन्दनादि करे तो वह साधु गर्वान्वित भी कभी न हो, बस, इस प्रकार चारित्र को दूषित करने वाले दूषणों को देखता हुआ उन से बाल बाल बचता रहे उसी का चारित्र * अखण्ड रहता है।

मूलः-पण्णसमत्ते सया जए,
समताधम्ममुदाहरे मुणी ।
सुहमे उ सया अलूसए,
णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥१२॥

छायाः-प्रज्ञा समाप्तः सदा जयेत्,
समतया धर्म मुदाहरेन्मुनिः ।
सूक्ष्मे तु अलूषकः,
न क्रुध्येन्न मानी माहन् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (मुणी) वह साधु (पण्णसमत्ते) समग्र प्रज्ञा करके सहित तथा प्रश्न करने पर उत्तर

---

* Right conduct; ascetic conduct inspired by the subsidence of abstructive Karma.

देने में समर्थ (सया) हमेशा (जए) कषायादि को जीते (समताधम्ममुदाहरे) समभाव से धर्म को कहता हो, और (सया) सदैव (सुहुमे) सूक्ष्म चारित्र में (अलूसए) अविराधक हो, उन्हें ताड़ने पर (णो) नहीं (कुज्झे) क्रोधित हो एवं सत्कार करने पर (णो) नहीं (माणि) मानी हो, वही (माहणे) साधु है।

भावार्थः-हे गौतम ! तीक्ष्ण बुद्धि से सहित हो, प्रश्न करने पर जो शान्ति से उत्तर देने में समर्थ हो, समता भाव से जो धर्म कथा कहता हो, चरित्र में सूक्ष्म रीति से भी जो विराधक न हो, ताड़ने तर्जने पर क्रोधित और सत्कार करने पर गर्वान्वित जो न होता हो, सचमुच में वही साधु पुरुष है।

मूलः-न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिन्नं ।
णिक्खम से सेवइ गारिकम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥१४॥

छायाः-न तस्य जातिर्वा कुलं वा त्राणं,
नान्यत्र विद्या चरणं सूचीर्णम् ।
निष्क्रम्य सः सेवतेऽगारिकर्म,
न सः पारगो भवति विमोचनाय ॥१४॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (सुचिन्नं) अच्छी तरह आचरण किये हुए (चरणं) चारित्र (विज्जा) ज्ञान के (णण्णत्थ) सिवाय (तस्स) उसके (जाई) जाति (व) और (कुलं) कुल (ताणं) शरण (न) नहीं होता हैं। जो (से) वह (णिक्खम) संसार प्रपंच से निकल कर

(गारिकम्मं) पुनः गृहस्थ कर्म (सेवइ) सेवन करता (से) वह (विमोयणाए) कर्म मुक्त करने के लिए (पारए) संसार से परले पार (ण) नहीं (होइ) होता है।

भावार्थः-हे गौतम! साधु हो कर जाति और कुल का जो मद करता है, इस में उसकी साधुता नहीं है। प्रत्युत वह गर्व त्राणभूत न हो कर हीन जाति और कुल में पैदा करने की सामग्री एकत्रित करता है। केवल ज्ञान एवं क्रिया के सिवाय और कुछ भी परलोक में हित कारक नहीं है। और साधु हो कर गृहस्थ जैसे कार्य फिर करता है वह संसार समुद्र से परले पार होने में समर्थ नहीं है।

मूलः-एवं ण से होइ समाहिपत्ते,
जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते,
अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥१५॥

छायाः-एवं न स भवति समाधिप्राप्तः,
यः प्रज्ञया भिक्षुः व्युत्कर्षेत्।
अथवाऽपि यो लाभमदावलिप्तः,
अन्यं जनं खिंसति बालप्रज्ञः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार से (से) वह गर्व करने वाला साधु (समाहिपत्ते) समाधि मार्ग को प्राप्त (ण) नहीं (होइ) होता है। और (जे) जो (पन्नवं) प्रज्ञावंत (भिक्खु) साधु हो कर (विउक्कसेज्जा) आत्म प्रशंसा करता है। (अहवा) अथवा (जे) जो (लाभमयावलित्ते) लाभ मद में लिप्त हो रहा है वह

(बालपन्ने) मूर्ख (अन्नं) अन्य (जणं) जनकी (खिंसति) निन्दा करता है।

भावार्थः–हे गौतम ! मैं जातिवान् हूँ, कुलवान हूँ। इस प्रकार का गर्व करने वाला साधु समाधि मार्ग को कभी प्राप्त नहीं होता है। जो बुद्धिमान् हो कर फिर भी अपने आप ही की आत्म प्रशंसा करता है, अथवा यों कहता है, कि मैं ही साधुओं के लिये वस्त्र, पात्र आदि का प्रबंध करता हूँ। बेचारा दूसरा क्या कर सकता है? वह तो पेट भरने तक की चिन्ता दूर नहीं कर सकता, इस तरह दूसरों की निन्दा जो करता है, वह साधु कभी नहीं है।

मूलः–न पूयणं चेव सिलोयकामी,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
आणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥ १६ ॥

छायाः–न पूजनं चैव श्लोककामी,
प्रियमप्रियं कस्यापि नो कुर्यात्।
सर्वानर्थान् परिवर्जयन्,
अनाकुलश्च अकषायी भिक्षुः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (भिक्खू) साधु (पूयणं) वस्त्र पात्रादि की (न) इच्छा न करे (चेव) और न (सिलोयकामी) आत्म प्रशंसा का कामी ही हो (कस्सइ) किसी के साथ (पियमप्पियं) राग और द्वेष (णो) न (करेज्जा) करे (सव्वे) सभी (अणट्ठे) अनर्थकारी बातों को जो (परिव-

ज्जयंते) छोड़ दे (अणाउले) फिर भय रहित (या) और (अकसाइ) कषाय रहित हो।

भावार्थः-हे गौतम ! साधु प्रवचन करते समय वस्त्रादि की प्राप्ति की एवं आत्म प्रशंसा की वांछा कभी न रक्खे। या किसी के साथ राग और द्वेष से संबंध रखने वाले कथन को भी वह न करे। इस प्रकार आत्मा कलुषित करने वाली सभी अनर्थकारी बातों को छोड़ते हुए भय एवं कषाय रहित हो कर साधु को प्रवचन करना चाहिए।

मूलः-जाए सद्धाए निक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥ १७॥

छायाः-यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, पर्यायस्थानमुत्तमम् ।
तदेवानुपालयेत्, गुणेषु आचार्यसम्मतेषु ॥ १७॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति! (जाए) जिस (सद्धाए) श्रद्धा से (उत्तमं) प्रधान (परियायट्ठाणं) प्रव्रज्यास्थान प्राप्त करने को (निक्खंतो) मायामय कर्मों से निकला (तमेव) वैसी ही उच्च भावनाओं से (आयरियसम्मए) तीर्थंकर कथित (गुणे) गुण (अणुपालिज्जा)पालना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम ! जो गृहस्थ जिस श्रद्धा से प्रधान दीक्षा स्थान प्राप्त करने को मायामय काम रूप संसार से पृथक् हुआ उसी भावना से जीवन पर्यंत उसको तीर्थंकर प्ररूपित गुणों में वृद्धि करते रहना चाहिये।

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

(अध्याय दसवां)

प्रमाद-परिहार

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-दुमपत्तए पंडुए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुआण जीविअं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १ ॥

छायाः-द्रुमपत्रकं पाण्डुरकं यथा,
निपतति रात्रिगणानामत्यये ।
एवं मनुजानां जीवितं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (जहा) जैसे (राइगणाणअच्चए) रात दिन के समूह वीत जाने पर (पंडुए) पक जाने से (दुमपत्तए) वृक्ष का पत्ता (निवडइ) गिर जाता है (एवं) ऐसे ही (मणुआणं) मनुष्यों का (जीविअं) जीवन है। अतः (समयं) एक समय मात्र के लिए भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम! जैसे समय पाकर वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं; फिर वे पक कर गिर जाते हैं। उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन नाशशील है। अतः हे गौतम! धर्म का पालन करने में एक क्षण मात्र भी व्यर्थ मत गवाँओ।

मूलः-कुसग्गे जह ओसबिंदुए,
थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुआण जीविअं,
समयं गोयम! मा पमायए॥ २॥

छायाः-कुशाग्रे यथाऽवश्यायबिन्दुः,
स्तोकं तिष्ठति लम्बमानकः।
एवं मनुजानां जीवितं,
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥ २॥

अन्वयार्थः-(गोयम!) हे गौतम! (जह) जैसे (कुसग्गे) कुश के अग्रभाग पर (लंबमाणए) लटकती हुई (ओसबिंदुए) ओस की बूँद (थोवं) अल्प समय (चिट्ठइ) रहती है (एवं) इसी प्रकार (मणुआणं) मनुष्य का (जीविअं) जीवन है। अतः (समयं) एक समय मात्र (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम! जैसे घास के अग्रभाग पर तरल ओस की बूँद थोड़े ही समय तक टिक सकती है। ऐसे ही मानव शरीर धारियों का जीवन है। अतः हे गौतम! जरा समय के लिए भी ग़ाफ़िल मत रह।

मूलः—इइ इत्तरिअम्मि आउए,
जीविअए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरेकडं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३ ॥

छायाः—इतीत्वर आयुपि,
जीवितके बहु प्रत्यवायके ।
विधुनीहि रजः पुराकृतं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥३॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (इइ) इस प्रकार (आउए) निरुपक्रम आयुष्य (इत्तरिअम्मि) अल्प काल का होता हुआ और, (जीविअए) जीवन सोपक्रमी होता हुआ (बहुपच्चवायए) बहुत विघ्नों से घिरा हुआ समझ करके (पुरेकडं) पहले की हुई (रयं) कर्म रूपी रज को (विहुणाहि) दूर करो, इस कार्य में (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसे शस्त्र, विष, आदि उपक्रम भी बाधा नहीं पहुँचा सकते, ऐसा नोपक्रमी (अकाल मृत्यु से रहित) आयुष्य भी थोड़ा होता है । और शस्त्र, विष आदि से जिसे बाधा पहुँच सके ऐसा सोपक्रमी जीवन थोड़ा ही है । उस में भी ज्वर, खांसी आदि अनेक व्याधियों का विघ्न भरा पड़ा होता है । ऐसा समझ कर हे गौतम ! पूर्व के किये हुए कर्मों को दूर करने में क्षण भर प्रमाद न करो ।

मूलः-दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ४ ॥

छायाः-दुर्लभः खलु मानुष्यो भवः
चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम् ।
गाढाश्च विपाकाः कर्मणां,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥४॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (सव्वपाणिणं) सब प्राणियों को (चिरकालेण वि) बहुत काल से भी (खलु) निश्चय करके (माणुसे) मनुष्य (भवे) भव (दुल्लहे) मिलना कठिन है । (य) क्योंकि (कम्मुणो) कर्मों के (विवाग) विपाक को (गाढा) नाश करना कठिन है । अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! जीवों को एकेन्द्रिय आदि योनियों में इधर उधर जन्मते मरते हुए बहुत काल गया । परंतु दुर्लभ मनुष्य जन्म नहीं मिला । क्योंकि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने में जो रोड़ा अटकाते हैं ऐसे कर्मों का विपाक नाश करने में महान् कठिनाई है । अतः हे गौतम ! मानव देह पा कर पल भर भी प्रमाद मत कर ।

मूलः-पुढविकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ५ ॥

छायाः-पृथिवीकायमतिगतः,
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (पुढविकायमइगओ) पृथ्वी काय में गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखाईयं) संख्या से अतीत अर्थात् असंख्य (कालं) काल तक (संवसे) रहता है । अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! यह जीव पृथ्वी काय* में जन्म-मरण को धारण करता हुआ उत्कृष्ट असंख्य काल अर्थात् असंख्य सर्पिणी उत्सर्पिणी काल तक को बिताता रहता है। अतः हे मानव-देह-धारी गौतम ! तुझे एक क्षण मात्र की भी गफलत करना उचित नहीं है।

मूलः-आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥

* Body of the living beings of the earth

तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥

वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए॥८॥

छाया:-अपकायमतिगतः,
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ ६ ॥

तेजः कायमतिगतः,
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ ७ ॥

वायुकायमतिगतः,
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ ८॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (जीवो) जीव (आउक्कायमइगओ) अपकाया को प्राप्त हुआ (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखाईयं) असंख्यात (काल) काल तक (संवसे) रहता है । अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ॥ ६ ॥ इसी तरह (तेउक्कायमइगओ)

अग्निकाय को प्राप्त हुआ जीव और (वाउकायमइगओ) वायुकाय को प्राप्त हुआ जीव असंख्य काल तक रह जाता है।

भावार्थः-हे गौतम! इसी तरह यह आत्मा जल, अग्नि तथा वायु काय में असंख्य काल तक जन्म मरण को धारण करता रहता है। इसीलिए तो कहा जाता है कि मानव जन्म मिलना महान् कठिन है। अतएव हे गौतम! तुझे धर्म का पालन करने में तनिक भी गाफिल न रहना चाहिए।

मूलः- वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतं दुरंतयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

छायाः-वनस्पतिकायमतिगतः,
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालमनन्तं दुरन्तं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम (वणस्सइकायमइगओ) वनस्पति काय में गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (दुरंतयं) कठिनाई से अन्त आवे ऐसा (अणंतं) अनंत (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम! यह आत्मा वनस्पतिकाय में अपने कृत कर्मों द्वारा जन्म मरण करता है, तो उत्कृष्ट अनंत काल तक उसी में गोता लगाया करता है। और इसी से उस आत्मा को मानव शरीर मिलना कठिन हो जाता है। इस लिए हे गौतम! पल भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

मूलः-बेइंदिअकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसण्णिअं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १० ॥

छायाः- द्वीन्द्रियकायमतिगतः,
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (बेइंदिअकायमइगओ) द्वीन्द्रिय योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखिज्जसंण्णिअं) संख्या की संज्ञा है जहां तक ऐसे (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह आत्मा दो इंद्रियवाली योनियों में जाकर जन्म धारण करता है तो काल गणना की जहां तक संख्या बताई जाती है वहां तक अर्थात् संख्याता काल तक उसी योनि में जन्ममरण को धारण करता रहता है। अतः हे गौतम ! क्षण मात्र का भी प्रमाद न कर।

मूलः-तेइंदियकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।

कालं संखिज्जसंरिणश्रं ।
समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥

चउरिंदियकायमइगश्रो,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसंरिणश्रं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १२ ॥

छाया:-त्रीन्द्रियकायमतिगतः
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ ११ ॥

चतुरिन्द्रियकायमतिगतः
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (तेइंदियकायमइगश्रो) तीन इन्द्रियवाली योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखिज्जसंरणाश्रं) काल गणना की जहां तक संख्या बताई जाती है वहां तक अर्थात् संख्यात (कालं) काल तक (संवसे) रहता है । इसी तरह (चउरिंदियकायमइगश्रो) चतुरिंद्रिय वाली योनि को प्राप्त हुए जीव के लिए भी जानना चाहिए अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः--हे गौतम ! जब यह आत्मा तीन इन्द्रिय तथा चार इन्द्रियवाली योनि में जाता है तो अधिक से अधिक संख्याता काल तक उन्हीं योनियों में जन्म मरणको धारण करता रहता है । अतः हे गौतम ! धर्म की वृद्धि करने में एक पल भर का भी कभी प्रमाद न कर ।

मूलः--पंचिंदियकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १३ ॥

छायाः--पञ्चेन्द्रियकायमतिगतः,
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
सप्ताष्टभवग्रहणानि,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः--(गोयम !) हे गौतम ! (पंचिंदियकायमइगओ) पांच इन्द्रिय वाली योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (सत्तट्ठभवग्गहणे) सात आठ भव तक (संवसे) रहता है । अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः--हे गौतम ! यह आत्मा पंचेन्द्रियवाली तिर्यंच की योनियों में जब जाता है, तब यह अधिक से अधिक सात आठ भव तक उसी योनि में निवास करता है । अतः हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर ।

मूलः—देवे नेरइए अइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
इक्किक्कभवग्गहणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १४ ॥

छायाः—देवेनैरयिकेचातिगतः,
उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
एकैकभवग्रहणं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (देवे) देव (नेरइए) नारकीय भवों में (अइगओ) गया हुआ (जीवो) जीव (इक्किक्कभवग्गहणे) एक एक भव तक उसमें (संवसे) रहता है । अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद कभी मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह आत्मा देव अथवा नारकीय भवों में जन्म लेता है तो वहाँ एक एक जन्म तक यह रहता है (बीच में नहीं निकल सकता) अतएव हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

मूलः—एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १५ ॥

छायाः—एवं भवसंसारे,
संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः ।

जीवो बहुल प्रमादः,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (एवं) इस प्रकार (भवसंसारे) जन्म मरण रूप संसार में (पमाय-बहुलो)) अति प्रमाद वाला (जीवो) जीव (सुहासुहेहिं) शुभ अशुभ (कम्मेहिं) कर्मों के कारण से (संसरइ) भ्रमण करता रहता है । अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आदि एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चारइन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय वाली तिर्यंच योनियों में एवं देव तथा नरक में संख्याता, असंख्याता और अनंत काल तक अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण यह जीव भटकता फिरता है । इसी से कहा गया है कि इस आत्मा को मनुष्य भव मिलना महान् कठिन है ! इसलिए मानव-देह-धारी हे गौतम ! अपनी आत्मा को उत्तम अवस्था में पहुँचाने के लिए समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर ।

मूलः-लद्धूण वि माणुसत्तणं,
आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं ।
बहवे दसुआ मिलक्खुआ,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १६ ॥

छायाः-लब्ध्वाऽपि मानुषत्वं,
आर्यत्वं पुनरपि दुर्लभम् ।

बहवो दस्यवो म्लेच्छाः,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१६॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (माणुसत्तणं) मनुष्यत्वं (लध्दूणावि) प्राप्त हो जाने पर भी (पुणरावि) फिर (आरिअत्तं) आर्यत्व का मिलना (दुल्लहं) दुर्लभ है। क्योंकि (बहवे) बहुतों को यदि मनुष्य भव मिल भी गया तो वे (दसुआ) चोर और (मिलक्खुआ) म्लेच्छ हो गये अतः (समयं) समय मात्र का भी (पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! यदि इस जीव को मनुष्य जन्म मिल भी गया तो आर्य होने का सौभाग्य प्राप्त होना महान् दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से नाम मात्र के मनुष्य अनार्य क्षेत्रों में रह कर चोरी वगैरह करके अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे नाम मात्र के मनुष्यों की कोटि में और म्लेच्छ जाति में जहां कि घोर हिंसा के कारण जीव कभी ऊँचा नहीं उठता ऐसी जाति और देश में जीव ने मनुष्य देह पा भी ली तो किस काम की ! इसलिए आर्य देश में जन्म लेने वाले और कर्मों से आर्य हे गौतम ! एक पल भर का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-लध्दूणवि आरियत्तणं,
अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसई,
समयं गोयमा मा पमायए ॥१७॥

छाया:-लब्ध्वाऽप्यार्यत्वं,
अहीनपञ्चेन्द्रियता हि दुर्लभा ।
विकलेन्द्रियता हि दृश्यते,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१७॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (आरियत्तणं) आर्यत्व के (लद्धूण वि) प्राप्त होने पर भी (हु) पुनः (अहीणपंचिंदियया) अहीन पंचेन्द्रियपन मिलना (दुल्लहा) दुर्लभ है (हु) क्योंकि अधिकतर (विगलिंदियया) विकलेन्द्रिय वाले (दीसई) दीख पड़ते हैं । अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! मानव-देह आर्य देश में भी पा गया परन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति सहित मानव देह मिलना महान् कठिन है । क्योंकि बहुत से ऐसे मनुष्य देखने में आते हैं कि जिनकी इन्द्रियां विकल हैं । जो कानों से बधिर हैं । जो आँखों से अंधे या पैरों से अपङ्ग हैं । इसलिए सशक्त इन्द्रियों वाले हे गौतम ! चौदहवां गुणस्थान प्राप्त करने में कभी आलस्य मत कर ।

मूलः-अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।
कुतित्थिनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

छाया:--अहीनपञ्चेन्द्रियत्वमपि स लभते,
उत्तमधर्मश्रुतिर्हि दुर्लभा।
कुतीर्थिनिषेवको जनो,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः-(गोयम) हे गौतम ! (अहीणपंचिंदियत्तं पि) पांचों इन्द्रियों की सम्पूर्णता भी (से) वह जीव (लहे) प्राप्त करे तदपि (उत्तमधम्मसुई) यथार्थ धर्म का श्रवण होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (हु) निश्चय करके,क्योंकि (जणे) बहुत से मनुष्य (कुतित्थिनिसेवए) कुतीर्थी की उपासना करनेवाले हैं। अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम !पांचों इन्द्रियों की सम्पूर्णतावाले को आर्य देश में मनुष्य जन्म भी मिल गया तो अच्छे शास्त्र का श्रवण मिलना और भी कठिन है। क्योंकि बहुत से मनुष्य जो इह लौकिक सुखों को ही धर्म का रूप देने वाले हैं कुतीर्थी रूप हैं। नाम मात्र के गुरु कहलाते हैं। उन की उपासना करने वाले हैं। इसलिए उत्तम शास्त्र श्रोता हे गौतम ! कर्मों का नाश करने में तनिक भी ढील मत कर।

मूल:-लद्धूणवि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

छाया:-लब्ध्वाऽपि उत्तमां श्रुतिं,
श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम् ।
मिथ्यात्वनिषेवको जनो,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१६॥

अन्वयार्थः-(गोयम) हे गौतम ! (उत्तमं) प्रधान शास्त्र (सुइं) श्रवण (लद्धूण वि) मिलने पर भी (पुणरावि) पुनः (सद्दहणा) उस पर श्रद्धा होना (दुल्लहा) दुर्लभ है । क्योंकि (जणे) बहुत से मनुष्य (मिच्छत्तनिसेवए) मिथ्यात्व का सेवन करते हैं । अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः--हे गौतम ! सच्छास्त्र का श्रवण भी हो जाय तो भी उस पर श्रद्धा होना महान् कठिन है । क्योंकि बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं जो सच्छास्त्र श्रवण करके भी मिथ्यात्व का बड़े ही जोरों के साथ सेवन करते हैं । अतः हे श्रद्धावान् गौतम ! सिद्धावस्था को प्राप्त करने में आलस्य मत कर ।

मूलः-धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

छाया-धर्ममपि हि श्रद्दधतः,
दुर्लभकाः कायेन स्पर्शकाः ।

इह कामगुणैर्मूर्च्छिताः,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२०॥

अन्वयार्थः-(गोयम) हे गौतम ! (धम्मं पि) धर्म को भी (सद्दहंतया) श्रद्धते हुए (काएण) काया करके (फासया) स्पर्श करना (दुल्लहया) दुर्लभ है (हु) क्योंकि (इह) इस संसार में बहुत से जन (कामगुणेहि) भोगादि के विषयों से (मुच्छिया) मूर्च्छित हो रहे हैं अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! प्रधान धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उसके अनुसार चलना और भी कठिन है ! धर्म को सत्य कहने वाले वाचाल तो बहुत लोग मिलेंगे पर उसके अनुसार अपना जीवन बिताने वाले बहुत ही थोड़े देखे जावेंगे। क्योंकि इस संसार के काम भोगों में मोहित हो कर अनेकों प्राणी अपना अमूल्य समय अपने हाथों खो रहे हैं। इसलिए श्रद्धापूर्वक क्रिया करने वाले हे गौतम ! कर्मों का नाश करने में एक क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते
से सोयबले य हायई,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१॥

छायाः-परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरकाः भवन्ति ते।

तत् श्रोत्रबलं च हीयते,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२१॥

अन्वयार्थ -(गोयम) हे गौतम ! (ते) तेरा (सरीरयं) शरीर (परिजूरइ) जीर्ण होते जा रहा है। (ते) तेरे (केसा) बाल (पंडुरया) सफेद (हवंति) होते जा रहे हैं। (य) और (से) वह शक्ति जो पहले थी (सोयबले) श्रोतेन्द्रिय की शक्ति अथवा "सव्वबले" कान, नाक, आँख, जिह्वा आदि की शक्ति (हायई) हीन होती जा रही है। अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! आये दिन तेरी वृद्धावस्था निकट आती जा रही है। बाल सफेद होते जा रहे हैं। और कान, नाक, आँख, जीभ, शरीर, हाथ पैर आदि की शक्ति भी पहले की अपेक्षा न्यून होती जा रही है। अतः हे गौतम ! समय को अमूल्य समझ कर धर्म का पालन करने में क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-अरई गंडं विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

छायाः-अरतिर्गण्डं विसूचिका,
आतंका विविधा स्पृशन्ति ते।

विह्रियते विध्वस्यति ते शरीरकं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२२॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (अरई) चित्त को उद्वेग (गंडं) गाँठ गूमड़े (विसूइया) दस्त उल्टी और (विविहा) विविध प्रकार के (आयंका) प्राण घातक रोगों को (ते) तेरे जैसे ये बहुत से मानव शरीर (फुसंति) स्पर्श करते हैं (ते सरीरयं) तेरे जैसे ये बहुत मानव-शरीर (विहडइ) बल की हीनता से गिरते जा रहे हैं । और (विद्धंसइ) अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! यह मानव शरीर उद्वेग, गाँठ, गूमड़ा, वमन, विरेचन और प्राण घातक रोगों का घर है और अन्त में बल हीन होकर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है । अतः मानव-शरीर को ऐसे रोगों का घर समझकर हे गौतम ! मुक्ति को पाने में विलम्ब मत क ।

मूलः-वोच्छिंद सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं वा पाणियं ।
से सव्वसिणेह वज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

छायाः-व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः,
कुमुदं शारदमिव पानीयम् ।

तत् सर्वस्नेहवर्जितः,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२३॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (सारइयं) शरद ऋतु के (कुमुयं) कुमुद (पाणियं) पानी को (वा) जैसे त्याग देते हैं। ऐसे ही (अप्पणो) तू अपने (सिणेहं) स्नेह को (वोच्छिंद) दूर कर (से) इसलिये (सव्वसिणेहवज्जिए) सर्व प्रकार के स्नेह को त्यागता हुआ (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! शरद ऋतु का चन्द्र विकासी कमल जैसे पानी को अपने से पृथक् कर देता है। उसी तरह तू अपने मोह को दूर करने में समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

मूलः-चिच्चाण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

छायाः-त्यक्त्वा धनं च भार्यां,
प्रव्रजितो ह्यस्य नगारताम् ।
मा वान्तं पुनरप्यापिबेः,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२४॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (हि) यदि तूने (धणं) धन (च) और (भारियं) भार्या को (चिच्चाण) छोड़कर (अणगारियं) साधुपनको (पव्वइओसि) प्राप्त कर लिया है। अतः (वंतं) वमन किये हुए को (पुणो वि) फिर भी (मा) मत (आविए) पी, प्रत्युत त्याग वृत्ति को निश्चल रखने में (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर !

भावार्थः-हे गौतम ! तूने धन और स्त्री को त्याग कर साधु वृत्ति को धारण करने की मन में इच्छा करली है। तो उन त्यागे हुए विषैले पदार्थों का पुनः सेवन करने की इच्छा मत कर। प्रत्युत त्याग वृत्ति को दृढ करने में एक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

मूलः-न हु जिणे अज्ज दिसई,
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २५ ॥

छायाः-नखलु जिनोऽद्य दृश्यते,
बहुमतो दृश्यते मार्गदेशकः।
सम्प्रति नैयायिके पथि,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (अज्ज) आज (हु) निश्चय करके (जिणे) तीर्थंकर (न) नहीं (दिसई)

दिखते हैं, किन्तु (मग्गदेसिए) मार्ग दर्शक और (बहुमए) बहुतों का माननीय मोक्षमार्ग (दिस्सई) दिखता है। ऐसा कहकर पंचम काल के लोग धर्म ध्यान करेंगे। तो भला (संपइ) वर्तमान् में मेरे मौजूद होते हुए (नेयाउए) नैयायिक (पहे) मार्ग में (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः--हे गौतम ! पंचम काल में लोग कहेंगे कि आज तीर्थंकर तो हैं नहीं, पर तीर्थंकर प्ररूपित मार्ग दर्शक और अनेकों के द्वारा माननीय यह मोक्षमार्ग है; ऐसा वे सम्यक् प्रकार से समझते हुए धर्म की आराधना करने में प्रमाद नहीं करेंगे। तो मेरे मौजूद रहते हुए न्याय पथ से साध्य स्थान पर पहुँचने के लिए हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः--अवसोहियकंटगापहं,
ओइण्णो सि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २६ ॥

छायाः-अवशोध्य कण्टकपथं,
अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयं ।
गच्छसि मार्गं विशोध्य,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः--(गोयम !) हे गौतम ! (कंटगापहं)

कंटक सहित पंथ को (अवसोहिया) छोड़ कर (महालयं) वि-शाल मार्ग को (ओइएणोसि) प्राप्त होता हुआ, उसी (विसोहिया) विशेष प्रकार से शोधित (मग्गं) मार्ग को (गच्छसि) जाता है। अतः इसी मार्ग को तय करने में (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! संकुचित अतथ्य पंथ को छोड़ कर जो तूने विशाल तथ्य मार्ग को प्राप्त कर लिया है। और उस के अनुसार तू उसी विशाल मार्ग का पथिक भी बन चुका है। अतः इसी मार्ग से अपने निजी स्थान पर पहुँचने के लिए हे गौतम ! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७।

छायाः-अबलो यथा भारवाहकः,
मा मार्गं विषममव गाह्य।
पश्चात्पश्चादनुताप्यते,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२७॥

अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (जह) जैसे (अबले) बल रहित (भारवाहए) बोझा ढोने वाला मनुष्य (विसमे) विषम (मग्गे) मार्ग में (अवगाहिया)

प्रवेश हो कर (पच्छा) फिर (पच्छाणुतावए) पश्चाताप करता है। (मा) ऐसा मत बन । परन्तु जो सरल मार्ग मिला है उसको तय करने में (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे एक दुर्बल आदमी बोझा उठा कर विकट मार्ग में चले जाने पर महान् पश्चात्ताप करता है। ऐसे ही जो नर अल्पज्ञों के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को ग्रहण कर कुपंथ के पथिक होंगे, वे चौरासी की चक्र फेरी में जा पड़ेंगे। और वहां वे महान् कष्ट उठावेंगे। अतः पश्चात्ताप करने का मौका न आवे ऐसा कार्य करने में हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

मूलः—तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२८॥

छायाः—तीर्णः खल्वस्यर्णवं महान्तं,
किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः ।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२८॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (महं) बड़ा (अण्णवं) समुद्र (तिण्णो हु सि) मानो तू

पार कर गया (पुण) फिर (तीरमागओो) किनारे पर आया हुआ (किं) क्यों (चिट्ठसि) रुक रहा है । अतः (पारं) परले पार (गमित्तए) जाने के लिए (अभितुर) शीघ्रता कर, ऐसा करने में (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! अपने आप को संसार रूप महान् समुद्र के पार गया हुआ समझ कर फिर उस किनारे पर ही क्यों रुक रहा है। परले पार होने के लिए अर्थात् मुक्ति में जाने के लिए शीघ्रता कर। ऐसा करने में हे गौतम ! तू क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—अकलेवरसेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२९॥

छायाः-अकलेवर श्रेणिमुच्छ्रित्य,
सिद्धिं गौतम ! लोकं गच्छसि ।
क्षेमं च शिवमनुत्तरं,
समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २९ ॥

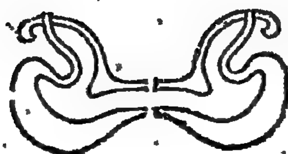
अन्वयार्थः-(गोयम !) हे गौतम ! (अकलेवरसेणिं) कलेवर रहित होने में सहायक भूत श्रेणी को (ऊसिआ) बढ़ा कर अर्थात् प्राप्त कर (खेमं) पर चक्र का भय रहित (च) और (सिवं) उपद्रव रहित (अणुत्तरं) प्रधान

(सिद्धिं) सिद्धि (लोयं) लोक को (गच्छसि) जाना ही है, फिर (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर

भावार्थः--हे गौतम ! सिद्ध पद पाने में जो शुभ अध्यवसाय रूप क्षपक श्रेणि सहायक भूत है, उसे पा कर एवं उत्तरोत्तर उसे बढ़ाकर, भय एवं उपद्रव रहित अटल सुखों का जो स्थान है, वहीं तुझे जाना है । अतः हे गौतम ! धर्म आराधना करने में पल मात्र की भी ढील मत कर ।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ की ये सम्पूर्ण शिक्षाएँ प्रत्येक मानव-देह-धारी को अपने लिए भी समझना चाहिए । और धर्म की आराधना करने में पल भर का भी प्रमाद कभी न करना चाहिए ।

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥



॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

(अध्याय ग्याहरवां)

भाषा-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-जा य सच्चा अवत्तव्वा,
सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिऽणाइएणा,
न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१॥

छायाः-या च सत्याऽवक्तव्या,
सत्यामृषा च या मृषा ।
या च बुद्धैर्नाचीर्णा,
न तां भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जा) जो (सच्चा) सत्य भाषा है, तदपि वह (अवत्तव्वा) नहीं बोलने योग्य (य) और (जा) जो (सच्चामोसा) कुछ सत्य कुछ असत्य

ऐसी मिश्रित भाषा (य) और (मुसा) झूठ, इस प्रकार (जा) जो भाषाएँ (बुद्धेहि) तीर्थंकरों द्वारा (अणाइण्णा) अनाचीर्ण हैं (तं) उन भाषाओं को (पन्नवं) प्रज्ञावान् पुरुष (न भासिज्ज) कभी नहीं बोलते ।

भावार्थः-हे गौतम ! सत्य भाषा होते हुए भी यदि सावद्य है तो वह बोलने के योग्य नहीं है, और कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा तथा बिलकुल असत्य ऐसी जो भाषाएँ हैं जिनका कि तीर्थंकरों ने प्रयोग नहीं किया और बोलने के लिए निषेध किया है, ऐसी भाषा बुद्धिमान् मनुष्य को कभी नहीं बोलना चाहिये ।

मूलः-असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥ २ ॥

छायाः-असत्या मृषां सत्यांच,
अनवद्यामकर्कशाम् ।
समुत्प्रेक्ष्याऽसंदिग्धां,
गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२ ॥

भावार्थः-हे इन्द्रभूति ! (असच्चमोसं) व्यावहारिक भाषा (च) और (अणवज्ज) वद्य रहित (अकक्कसं) कर्कशता रहित (असंदिद्धं संदेह रहित (समुप्पेहं) विचार कर ऐसी (सच्चं) सत्य (गिरं) भाषा (पन्नवं) बुद्धिमान् (भासिज्ज) बोले ।

भावार्थः-हे गौतम ! सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसी व्यवहारिक भाषा जैसे वह गांव आ रहा है आदि और

किसी को कष्ट न पहुँचे वैसी एवं कर्ण कठोर तथा संदेह रहित ऐसी भाषा को भी बुद्धिमान् पुरुष समयानुसार विचार कर बोलते हैं।

मूलः—तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥३॥

छायाः—तथैव परुषा भाषा, गुरु भूतोपघातिनी।
सत्याऽपि सा न वक्तव्या, यतः पापस्यागमः ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तहेव) इसी प्रकार (फरुसा) कठोर (गुरुभूओवघाइणी) अनेकों प्राणियों को नाश करने वाली (सच्चा वि) सत्य है। तो भी (जओ) जिससे (पावस्स) पाप का (आगमो) आगमन होता है (सा) वह भाषा (वत्तव्वा) बोलने योग्य (न) नहीं है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते हैं उनके लिए कठोर एवं जिस से अनेकों प्राणियों की हिंसा हो, ऐसी सत्य भाषा भी बोलने योग्य नहीं होती है। यद्यपि वह सत्य भाषा है, तदपि वह हिंसा कारी भाषा है, उसके बोलने से पाप का आगमन होता है, जिससे आत्मा भारवान् बनती है।

मूलः—तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहिअं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥४॥

छायाः—तथैव काणं काण इति,
पण्डकं पण्डक इति वा।

व्याधिमन्तं वाऽपि रोगीति,
स्तेनं चौर इति न वदेत् ॥४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तहेव) वैसे ही (काणं) काने को (काणे) काना है (त्ति) ऐसा (वा) अथवा (पंडगं) नपुंसक को (पंडगे) नपुंसक है (त्ति) ऐसा (वा) अथवा (वाहिअं) व्याधिवाले को (रोगि) रोगी है (त्ति) ऐसा और (तेणं) चोर को (चोरे) चोर है (त्ति) ऐसा (नो) नहीं (वए) बोलना चाहिए ।

भावार्थः--हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते हैं वे काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, व्याधि वाले को रोगी और चोर को चोर, ऐसा कभी नहीं बोलते हैं । क्योंकि वैसा बोलने में भाषा भले ही सत्य हो, पर ऐसा बोलने से उनका दिल दुखता है । इसीलिए यह असत्य भाषा है, और इसे कभी न बोलना चाहिए ।

मूलः-देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे ।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥५॥

छायाः-देवानां मनुजानां च,
तिरश्चां च विग्रहे ।
अमुकानां जयो भवतु,
मा वा भवत्विति नो वदेत् ॥५॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (देवाणं) देवताओं के (च) और (मणुयाणं) मनुष्यों के (च) और (तिरियाणं)

तिर्यंचों के (वुग्गहे) युद्ध में (अमुगाणं) अमुक की (जओ) जय (होउ) हो (वा) अथवा अमुक की (मा) मत (होउ) हो (त्ति) ऐसा (नो) नहीं (वए) बोलना चाहिए।

भावार्थः--हे गौतम ! देवता मनुष्य और तिर्यंचों में जो परस्पर युद्ध हो रहा हो उस में भी अमुक की जय हो अथवा अमुक की पराजय हो, ऐसा कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि एक की जय और दूसरे की पराजय बोलने से एक प्रसन्न होता है और दूसरा नाराज़ होता है। और जो बुद्धिमान् मनुष्य, ज्ञानी जन होते हैं वे किसी को दुःखी नहीं करते हैं।

मूलः-तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भयसा व माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥६॥

छायाः-तथैव सावद्यानुमोदिनी गिरा,
अवधारिणी या च परोपघातिनी ।
तां क्रोधलोभभयहास्येभ्यो मानवः,
न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥६॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (माणवो) मनुष्य (हासमाणो) हँसता हुआ (वि) भी (गिरं) भाषा को (न) न (वएज्जा) बोले (य) और (तहेव) वैसे ही (से) वह

(कोह) क्रोध से (लोह) लोभ से (भयसा) भय से (साव- ज्जणुमोयणी) सावद्य अनुमोदन के साथ (ओहारिणी) निश्चित और (परोवघाइणी) दूसरे जीवों की हिंसा करने वाली, ऐसी (जा) जो (गिरा) भाषा है उस को न बोले।

भावार्थः- हे गौतम ! बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो हड़ हड़ हँसता हुआ भी कभी नहीं बोलता है और इसी तरह सावद्य भाषा का अनुमोदन करके तथा निश्चयकारी और दूसरे जीवों को दुःख देने वाली भाषा कभी नहीं बोलता है।

मूलः—अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥७॥

छायाः--अपृष्टो न भाषेत् , भाषमाणस्यान्तरा ।
पृष्ठमांसं न खादेत् ,मायामृषां विवर्जयेत् ॥७॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! बुद्धिमान मनुष्यों को (भा- समाणस्स) बोलते हुए के (अन्तरा) बीच में (अपुच्छिओ) नहीं पूछने पर (न) नहीं (भासिज्ज) बोलना चाहिए और (पिट्ठिमंसं) चुगली भी (न) नहीं (खाएज्जा) खानी चाहिए। एवं (मायामोसं) कपट युक्त असत्य बोलना (विवज्जए) छोड़ना चाहिए।

भावार्थः--हे गौतम ! बुद्धिमान् वह है,जो दूसरे बोल रहे हों उनके बीच में उनके पूछे बिना न बोले और जो उन के परोक्ष में उनके अवगुणों को भी कभी न बोलता हो, तथा जिसने कपट युक्त असत्य भाषा को भी सदा के लिए छोड़ रक्खा हो।

मूलः—सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वइमए कण्णसरे स पुज्जो ॥ ८ ॥

छाया—शक्याः सोढुमाशयाकण्टकाः,
अयोमया उत्साहमानेन नरेण ।
अनाशया यस्तु स हेत कण्ठकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् सः पूज्यः ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (उच्छहया) उत्साही (नरेणं) मनुष्य (आसाइ) आशासे (अओमया) लोहमय (कंटया) कंटक या तीर (सहेउं) सहने को (सक्का) समर्थ है। परन्तु (कण्णसरे) कान के छिद्रों में प्रवेश करने वाले (कंटए) काँटे के समान (वइमए) वचनों को (अणासए) विना आशा से (जो) जो (सहेज्ज) सहन करता है (स) वह (पुज्जो) श्रेष्ट है।

भावार्थः—हे गौतम ! उत्साह पूर्वक मनुष्य अर्थ-प्राप्ति की आशा से लोह खण्ड के तीर और काँटों तक की पीड़ा को खुशी खुशी सहन कर जाते हैं । परन्तु उन्हें वचन रूपी कण्टक सहन होना बड़ा ही कठिन मालूम होता है। तो फिर आशा रहित हो कर कठिन वचन सुनना तो बहुत ही दुष्कर है। परन्तु विना किसी भी प्रकार की आशा के, कानों के छिद्रों द्वारा कण्टक के समान वचनों को सुन कर जो सह लेता है, बस, उसी को श्रेष्ट मनुष्य समझना चाहिए।

मूलः—मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,

अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।

वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,

वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ६ ॥

छायाः-मुहूर्त्त दुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः,

अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः ।

वाचा दुरुक्तानि दुरुद्धराणि,

वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अओमया) लोह निर्मित (कंटया) काँटों से (उ) तो (मुहुत्तदुक्खा) मुहूर्त्त मात्र दुःख (हवंति) होता है (ते वि) वह भी (तओ) उस शरीर से (सुउद्धरा) सुख पूर्वक निकल सकता है । परन्तु (वेराणु-बंधीणि) वैर को बढ़ाने वाले और (महब्भयाणि) महाभय को उत्पन्न करने वाले (वायादुरुत्ताणि) कहे हुए कठिन वचनों का (दुरुद्धराणि) हृदय से निकलना मुश्किल है ।

भावार्थः—हे गौतम ! लोह निर्मित कण्टक-तीर से तो कुछ समय तक ही दुःख होता है, और वह भी शरीर से अच्छी तरह निकाला जा सकता है । किन्तु कहे हुए तीक्ष्ण मार्मिक वचन वैर को बढ़ाते हुए नरकादि दुःखों को प्राप्त कराते हैं । और जीवन पर्यन्त उन कटु वचनों का हृदय से निकलना महान् कठिन है ।

मूलः—अवराणवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥१०॥

छायाः—अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य,
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम्।
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च,
भाषां न भाषेत् सदा सः पूज्यः ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (परंमुहस्स) उस मनुष्य के बिना मौजूदगी में (च) और (पच्चक्खउ) उसके प्रत्यक्ष रूप में (अवरणवायं) अवर्णवाद (भासं) भाषा को (सया) हमेशा (न) नहीं (भासेज्ज) बोलना चाहिए (च) और (पडिणीयं) अपकारी (उहारिणिं) निश्चयकारी (अप्पियकारिणिं) अप्रियकारी (भासं) भाषा को भी हमेशा नहीं बोलता हो (स) वह (पुज्जो) पूजनीय मानव है।

भावार्थः—हे गौतम! जो प्रत्यक्ष या परोक्ष में अवगुण वाद के वचन कभी भी नहीं बोलता हो। जैसे तू चोर है। पुरुषार्थी पुरुष को कहना कि तू नपुंसक है। ऐसी भाषा, तथा अप्रियकारी अपकारी, निश्चयकारी भाषा जो कभी नहीं बोलता हो, वह पूजनीय मानव है।

मूलः—जहा सुणी पूइकरणी, निकासिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निकासिज्जइ ॥११॥

छायाः-यथा शुनी पूतिकर्णा,

निः कास्यते सर्वतः ।

एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः,

मुखारिर्निःकास्यते ।११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पूइकण्णी) सड़े कान वाली (सुणी) कुत्तिया को (सव्वसो) सब जगह से (निक्कसिज्जइ) निकालते हैं। (एवं) इसी प्रकार (दुस्सील) खराब आचरण वाले (पडिणीए) गुरु और धर्म से द्वेष करने वाले और (मुहरी) अंट संट बड़ बड़ाने वाले को (निक्कसिज्जइ) कुल में से बाहर निकाल देते हैं।

भावार्थ -हे गौतम ! सड़े कानवाली कुतिया को सब जगह धुत्कार मिलता है और वह हर जगह से निकाली जाती है। इसी तरह दुराचारियों एवं धर्म से द्वेष करने वालों और मुँह से कटुवचन बोलने वालों को सब जगह से धुत्कारा मिलता है। और वहां से निकाल दिया जाता है।

मूलः-कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।

एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥१२॥

छायाः-कणकुण्डकं त्यक्त्वा,

विष्ठां भुङ्क्ते शूकरः ।

एवं शीलं त्यक्त्वा,

दुःशीले रमते मृगः ॥ १२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! जैसे (सूयपरे) शूकर (कण-कुंडगं) धान के कूँड़े को (चइत्ताणं) छोड़ कर (विट्ठं) विष्टा ही को (भुंजइ) खाता है, (एवं) इसी तरह (मिए) पशु के समान मूर्ख मनुष्य (सीलं) अच्छी प्रवृत्ति को (चइत्ताणं) छोड़ कर (दुस्सीले) खराब प्रवृत्ति ही में (रमई) आनंद मानता है।

भावार्थः-हे गौतम! जिस प्रकार सुअर धान्य के भोजन को छोड़ कर विष्टा ही खाता है, इसी तरह मूर्ख मनुष्य सदाचार-सेवन और मधुर भाषण आदि अच्छी प्रवृत्ति को छोड़ कर दुराचार सेवन करने तथा कटुभाषण करने ही में आनंद मानता रहता है, परन्तु उस मूर्ख मनुष्य को इस प्रवृत्ति से अन्त में बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है।

मूलः-आहच्च चंडालियं कट्टु,
न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा,
अकडं णो कडेत्ति य ॥ १३ ॥

छायाः-कदाचिच्च चाण्डालिकं कृत्वा,
न निह्नुवीत कदापि च।
कृतं कृतमिति भाषेत,
अकृतं नो कृतमितिच॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति (आहच्च चंडा-लियं) क्रोध से झूठ भाषण हो ...

(कट्टु) करके उसको (कयाइ) कभी (वि) भी (न) न (निएहविज्ज) छिपाना चाहिए (कडं) किया हो तो (कडेत्ति) किया है ऐसा (भासेज्जा) बोलना चाहिए (अ) और (अकडं) नहीं किया हो तो (णो) नहीं (कडेत्ति) किया ऐसा बोलना चाहिए ।

भावार्थः-हे गौतम ! कभी किसी से क्रोध के आवेश में आकर झूठ भाषण हो गया हो तो उस का प्रायश्चित्त करने के लिए उसे कभी भी नहीं छिपाना चाहिए । कटु भाषण किया हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि हां मुझ से हो तो गया है । और नहीं किया हो तो ऐसा कह देना चाहिए कि मैंने नहीं किया है ।

मूलः-पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से, णेव कुज्जा कयाइ वि ।१४।

छायाः-प्रत्यनीकं च बुद्धानां,
वाचाऽथवा कर्मणा ।
आविर्वा यदि वा रहसि,
नैव कुर्यात् कदापि च ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (बुद्धाणं) तत्वज्ञ (च) और सभी साधारण मनुष्यों से (पडिणीयं) शत्रुता, (वाया) वचन द्वारा और (अदुव) अथवा (कम्मुणा) काया द्वारा (आवीवा) मनुष्यों के देखते कपट रूप में (जइ वा) अथवा (रहस्से) एकान्त में (कयाइ वि) कभी भी (णेव) नहीं (कुज्जा) करना चाहिए ।

भावार्थः-हे गौतम! क्या तो तत्वज्ञ और क्या साधारण सभी मनुष्यों के साथ कटु वचनों से तथा शरीर द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में कभी भी शत्रुता करना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

मूलः-जणवयसम्मयठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहारभावजोगे, दसमे ओवम्म सच्चे य ॥१५॥

छायाः-जनपद-सम्यक्त्वस्थापना च,
नाम रूपं प्रतीत्य सत्यं च।
व्यवहारभावे योगानि
दशमौपमिकं सत्यं च ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जणवय) अपने अपने देश की (य) और (सम्मयठवणा) एकमत की स्थापना की (नामे) नाम की (रूवे) रूप की (पडुच्च सच्चे) अपेक्षा से कही हुई (य) और (ववहार) व्यावहारिक (भाव) भाव ली हुई (जोगे) यौगिक (य) और (दसमे) दशवीं (ओवम्म) औपमिक भाषा (सच्चे) सत्य है।

भावार्थः-हे गौतम! जिस देश में जो भाषा बोली जाती हो, जिस में अनेकों का एक मत हो, जैसे पंक से और भी वस्तु पैदा होती है, पर कमल ही को पंकज कहते हैं। जिसमें एकमत है। नापने के गज और तोलने के बाट वगैरह को जितना लम्बा और जितना वजन में लोगों ने मिलकर स्थापन कर रक्खा हो। गुण सहित या गुण शून्य जिसका

जैसा नाम हो, वैसा उच्चारण करने में, जिसका जैसा वेष हो उसके अनुसार कहने में, और अपेक्षा से,जैसे एक की अपेक्षा से पुत्र और दूसरे की अपेक्षा से पिता उच्चारण करने में जो भाषा का प्रयोग होता है, वह सत्य भाषा है। और ईंधन के जलने पर भी चूल्हा जल रहा है, ऐसा व्यावहारिक उच्चारण एवं तोते में पाँचों वर्णों के होते हुए भी " हरा " ऐसा भाव मय वचन और अमुक सेठ क्रोड़पति है फिर भले दो चार हजार अधिक हो या कम हो, उसको क्रोड़पति कहने में। एवं दशवीं उपमा में जिन वाक्यों का उच्चारण होता है, वह सत्य भाषा है। यों दस प्रकार की भाषाओं को ज्ञानी जनों ने सत्य भाषा कही है।

मूलः—कोहे माणे माया, लोभे पेज्ज तहेव दोसे य।
हासे भए अक्खाइय,उवघाए निस्सिया दसमा॥१६॥

छायाः—क्रोधं मानं माया,
लोभं रागं तथैव द्वेषश्च।
हास्यं भयं आख्यातिकः
उपघातो निःश्रितो दशमाः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कोहे) क्रोध (माणे) मान (माया) कपट (लोभे) लोभ (पेज्ज) राग (तहेव) वैसे ही (दोसे) द्वेष (य) और (हासे) हँसी (य) और [भए] भय और (अक्खाइय) कल्पित व्याख्या (दसमा) दशवीं (उवघाए) उपघात के (निस्सिया) आश्रित कही हुई भाषा असत्य है।

भावार्थः-हे गौतम ! क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य और भय से बोली जाने वाली भाषा तथा काल्पनिक व्याख्या और दशवीं उपघात (हिंसा) के आश्रित जिस भाषा का प्रयोग किया गया हो, वह असत्य भाषा है। इस प्रकार की भाषा बोलने से आत्मा की अधोगति होती है।

मूलः-इणमन्नं तु अन्नाणं इहमेगेसिमाहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते ति आवरे ॥१७॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥ १८ ॥
सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥१९॥
माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥२०॥

छायाः-इदमन्यत्त, अज्ञानं, इहैकेतदाख्यातम् ।
देवोप्तोऽयं लोकः, ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥ १७ ॥
ईश्वरेण कृतोलोकः प्रधानादिना तथाऽपरे ।
जीवाजीवसमायुक्तः, सुखदुःखसमन्वितः ॥१८॥
स्वयम्भुवा कृतो लोकः, इत्युक्तं महर्षिणा ।
मारेण संस्तुता माया, तेन लोकोऽशाश्वतः ॥१९॥
माहनाः श्रमणा एके, आहुरण्डकृतं जगत् ।
असौ तत्त्वमकार्षीत्, अजानन्तः मृषा वदन्ति २०।

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (मेगेसिं) कई एक (अन्नं) अन्य (अन्नाणं) अज्ञानी (इण) इस प्रकार (आहियं) कहते हैं. कि (अयं) इस (जीवाजीव समाउत्ते) जीव और अजीव पदार्थ से युक्त (सुह-दुक्खसमन्निए) सुख और दुखों से युक्त ऐसा (लोए) लोक (देवउत्ते) देवताओं ने बनाया है (आवरे) और दूसरे यों कहते हैं कि(बंभउत्तोत्ति)ब्रह्मा ने बनाया है। कोई कहते हैं कि (लोए) लोक (इसरेण) ईश्वर ने (कडे) बनाया है। (तहावरे) तथा दूसरे यों कहते हैं, कि (पहाणाइ) प्रकृति ने बनाया है । तथा नियति ने बनाया है। कोई बोलते हैं, कि (लोए) लोक (सयंभुणा) विष्णु ने (कडे) बनाया है। फिर मार " मृत्यु " बनाई। (मारेण) मृत्यु से (माया) माया (संथुया) पैदा की (तेण) इसी से (लोए) लोक (असासए) अशाश्वत है । (इति) ऐसा (महेसिणा) महर्षियों ने (वुत्तं) कहा है। और (एगे) कई एक (माहणा) ब्राह्मण (समणा) सन्यासी (जगे) जगत् (अंडकडे) अण्डे से उत्पन्न हुआ ऐसा (आह) कहते हैं। इस प्रकार (असो) ब्रह्मा ने (तत्तमकासी य) तत्व बनाया ऐसा कहने वाले (अयाणंता) तत्व को नहीं जानते हुए (मुसं) झूठ (वदे) कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! इस संसार में ऐसे भी लोग हैं, जो कहते हैं, कि जड़ और चेतन स्वरूप एवं सुख दुख युक्त जो यह लोक है, इस की इस प्रकार की रचना देवताओं ने की है। कोई कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि बनायी है। कोई ऐसा भी कहते हैं, कि ईश्वर ने जगत् की रचना की है। कोई यों बोलते हैं, कि सत्व, रज, तम, गुण की सम अवस्था को प्रकृति कहते

हैं। उस प्रकृति ने इस संसार की रचना की है। कोई यों भी मानते हैं, कि जिस प्रकार काँटे तीक्ष्ण, मयूर के पंख विचित्र रंगवाले, गन्ने में मिठास, लहसुन में दुर्गंध, कमल सुगंधमय स्वभाव से ही होते हैं; ऐसे ही सृष्टि की रचना भी स्वभाव से ही होती है। कोई इस प्रकार कहते हैं, कि इस लोक की रचना में स्वयंभू विष्णु अकेले थे। फिर सृष्टि रचने की चिन्ता हुई जिस से शक्ति पैदा हुई। तदनंतर सारा ब्रह्माण्ड रचा और इतनी विस्तार वाली सृष्टि की रचना होने पर यह विचार हुआ कि इस का समावेश कहां होगा? इस लिए जन्मे हुओं को मारने के लिए यम बनाया। उस ने फिर माया को जन्म दिया। कोई यों कहते हैं, कि पहले ब्रह्मा ने अण्डा बनाया। फिर वह फूट गया। जिसके आधे का ऊर्ध्व लोक और आधे का अधोलोक बन गया और उस में उसी समय समुद्र, नदी, पहाड़, गांव आदि सभी की रचना हो गयी। इस तरह सृष्टि को बनायी। ऐसा उनका कहना, हे गौतम! सत्य से पृथक् है।

मूलः-सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडे त्ति य।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइ वि ।२१।

छायाः-स्वकैः प्रयायै लोक-
मब्रुवन् कृतमिति च ।
तत्त्वं ते न विजानन्ति,
न विनाशी कदापि च ॥२१॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! जो (सएहिं) अपनी अपनी (परियाएहिं) पर्याय कल्पना करके (लोयं) लोक को अमुक

असुक ने (कडे सि) बनाया है, ऐसा (बूया) बोलते हैं। (ते) वे (तत्तं) यथातथ्य तत्व को (ण) नहीं (विजाणंति) जानते हैं। क्योंकि लोक (कयाइ वि) कभी भी (विणासी) नाशमान् (ण) नहीं है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो लोग यह कहते हैं, कि इस सृष्टि को ईश्वर ने, देवताओं ने, ब्रह्मा ने तथा स्वयंभू ने बनायी है, उनका यह कहना अपनी अपनी कल्पना मात्र है वास्तव में यथातथ्य बात को वे जानते ही नहीं हैं। क्योंकि यह लोक सदा अविनाशी है। न तो इस सृष्टि के बनने की आदि ही है और न अन्त ही है। हां, कालानुसार इसमें परिवर्त्तन होता रहता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से सृष्टि का नाश कभी नहीं होता है।

॥ इति ऐकादशोऽध्यायः ॥



॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

(अध्याय बारहवां)

लेश्या-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥१॥

छायाः-कृष्णा नीला च कापोती च,
तेजः पद्मा तथैव च ।
शुक्ललेश्या च षष्ठी च,
नामानि तु यथाक्रमम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (किण्हा) कृष्ण (य) और (नीला) नील (य) और (काऊ) कापोत (य) और (तेऊ) तेजो (तहेव) तथा (पम्हा) पद्म (य) और (छट्ठा) छठी (सुक्कलेसा) शुक्ल लेश्या (नामाइं) ये नाम (जहक्कमं) यथा क्रम जानो।

भावार्थः-हे आर्य ! पुण्य पाप करते समय आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं उसे यहां लेश्या के नाम से पुकारेंगे ।

वह लेश्या छः भागों में विभक्त है उनके यथा क्रम से नाम यों हैं। (१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजु (५) पद्म और (६) शुक्ल लेश्या। हे गौतम ! कृष्ण लेश्या का स्वरूप यों हैः—

मूलः—पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरत्रो य।
तिव्वारंभपरिणत्रो, खुद्दो साहस्सित्रो नरो ॥२॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदित्रो।
एअजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥३॥

छायाः—पञ्चाश्रवप्रवृत्तस्त्रिभिरगुप्त षट्सु अविरतश्च।
तीव्रारम्भ परिणतः क्षुद्रः साहसिको नरः ॥२॥

---

(१) कृष्ण लेश्या वाले की भावना यों होती है कि अमुक को मार डालो, काट डालो, सत्यानाश करदो आदि आदि। (२) नील लेश्या के परिणाम वे हैं जो कि दूसरे के प्रति हाथ, पैर तोड़ डालने के हों (३) कापोत लेश्या भावना उन मनुष्यों के है जो कि नाक, कान, अङ्गुलिएं आदि को कष्ट पहुँचाने में तत्पर हो। (४) तेजो लेश्या के भाव वह है जो दूसरे को लात, घूँसा, मुक्की आदि से कष्ट पहुँचाने में अपनी बुद्धिमत्ता समझता हो (५) पद्मलेश्या वाले की भावना इस प्रकार होती है कि कठोर शब्दों की बोछार करने में आनन्द मानता हो। (६) शुक्ललेश्या के परिणाम वाला अपराध करने वाले के प्रति भी मधुर शब्दों का प्रयोग करता है।

निध्वंसपरिणामः, नृशंसोऽजितेन्द्रियः।
एतद्योग समायुक्तः,कृष्णलेश्यां तु परिणमेत् ॥३॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (पंचासवप्पवत्तो) हिंसादि पाँच आश्रवों में प्रवृत्ति करने वाला (तीहिं) मन वच काय के तीनों योगों को बुरे कामों में जाते हुए को (अगुत्तो) नहीं रोकनेवाला (य) और (छसुं) षट्काय जीवों की हिंसा से (अविरओ) निवृत्त नहीं होने वाला (तिव्वारंभप· रिणओ) तीव्र है आरंभ करने में लगा हुआ (खुद्दो) क्षुद्र बुद्धि वाला, (साहस्सिओ) अकार्य करने में साहसिक (निद्धंधसपरिणामो) नष्ट करने वाले हिताहित के परिणाम को और (निस्संसो) निशंक रूप से पाप करने वाला (अजिइंदिओ) इन्द्रियों को न जीतने वाला (एअजोगस· माउत्तो) इस प्रकार के आचरणों से युक्त (नरो) मनुष्य, (किण्हलेसं) कृष्ण लेश्या के (परिणमे) परिणाम वाले होते हैं।

भावार्थ–हे गौतम! जिसकी प्रवृत्ति हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार और ममता में अधिकतर फँसी हुई हो, एवं मन· द्वारा जो हर एक का बुरा चिंतवन करता हो, जो कटु और मर्म भेदी बोलता हो, जो प्रत्येक के साथ कपट का व्यवहार करने वाला हो, जो विना प्रयोजन के भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस काय के जीवों की हिंसा से निवृत्त न हुआ हो, बहुत जीवों की हिंसा हो ऐसे महारंभ के कार्य करने में तीव्र भावना रखता हो, हमेशा जिसकी बुद्धि तुच्छ रहती हो, अकार्य करने में बिना किसी प्रकार की हिचकि· चाहट के जो प्रवृत्त हो जाता हो, निसंकोच भावों से पापाचरण

करने में जो रत हो, इन्द्रियों को प्रसन्न रखने में अनेक दुष्कार्य जो करता हो, ऐसे मार्गों में जिस किसी भी आत्मा की प्रवृत्ति हो वह आत्मा कृष्ण लेश्यावाली है। ऐसी लेश्या वाला फिर चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, मर कर नीची गति में जावेगा। हे गौतम! नील लेश्या का वर्णन यों है।

मूलः—इस्सा अमरिस अतवो, अविज्ज माया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए ॥ ४ ॥
सायगवेसए य आरंभा अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एअजोगसमाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे ॥ ५ ॥

छायाः—ईर्ष्याऽमर्षातपः, अविद्या मायाऽह्रीकता।
गृद्धिः प्रद्वेषश्च शठः, प्रमत्तो रसलोलुपः ॥४॥
सातागवेषकश्चारंभादविरतः, क्षुद्रः साहसिको नरः।
एतद्योगसमायुक्तः, नीललेश्यां तु परिणमेत् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (इस्सा) ईर्ष्या (अमरिस) अत्यन्त क्रोध, (अतवो) अतप (अविज्ज) कुशास्त्र पठन (माया) कपट (अहीरिया) पापाचार के सेवन करने में निर्लज्ज (गेही) गृद्धपन (य) और (पओसे) द्वेषभाव (सढे) धर्म में मंद स्वभाव (पमत्ते) मदोन्मत्तता (रस-लोलुए) रसलोलुपता (सायगवेसए) पौद्गलिक सुख की अन्वेषणा (अ) और (आरंभा) हिंसादि आरंभ से (अवि-रओ) अनिवृत्ति। (खुद्दो) क्षुद्रभावना (साहस्सिओ) अ-कार्य में साहसिकता (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के

आचरणों से युक्त (नरो) जो मनुष्य हैं, वे (नीललेसं) नील लेश्या को (परिणमे) परिणमित होते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! जो दूसरों के गुणों को सहन न करके रात दिन उनसे ईर्ष्या करने वाला हो, बात बात में जो क्रोध करता हो। खा पी कर जो सण्ड मुसण्ड बना रहता हो, पर कभी भी तपस्या न करता हो, जिनसे अपने जन्म मरण की वृद्धि हो ऐसे कुशास्त्रों का पठन पाठन करने वाला हो, कपट करने में किसी भी प्रकार की कोर कसर न रखता हो, जो भली बात कहने वाले के साथ द्वेष भाव रखता हो, धर्म कार्य में शिथिलता दिखाता हो, हिंसादि महारंभ से तनिक भी अपने मन को न खींचता हो, दूसरों के अनेकों गुणों की तरफ दृष्टिपात तक न करते हुए उस में जो एक आध अवगुण हो उसी की ओर निहारने वाला हो, और अकार्य करने में बहादुरी दिखाने वाला हो। जिस आत्मा का ऐसा व्यवहार हो, उसे नीललेशी कहते हैं। इस तरह की भावना रखने वाला व उस में प्रवृत्ति करने वाला चाहे कोई पुरुष हो या स्त्री वह मर अधोगति ही में जायगा।

मूलः-वंके वंकसमायरे, नियडिल्ले अणुज्जुए ।
पलिउंचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥६॥
उप्फालग दुट्ठवाई य, तेणे आवि य मच्छरी ।
एअजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे ॥७॥

छायाः-वक्रो वक्रसमाचारः, निकृतिमाननृजुकः ।
परिकुंचक औपधिकः, मिथ्यादृष्टिरनार्यः ॥६॥

उत्स्याशंक दुष्टवादी च, स्तेनश्चापिचमत्सरी ।
एतद्योगसमायुक्तः,कापोतलेश्यां तु परिणमेत्॥७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (वंके) वक्र भाषण करना (वंकसमायरे) वक्र वक्र क्रिया अंगीकार करना, (नियडिल्ले) मन में कपट रखना, (अणुज्जुए) टेढ़ेपन से रहना (पलिउंचग) स्वकीय दोषों को ढँकना, (ओवहिए) सब कामों में कपटता (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यात्व में अभिरुचि रखना (अणारिए) अनार्य प्रवृत्ति करना (य) और (तेणे) चोरी करना (अविमच्छरी) फिर मात्सर्य रखना (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के व्यवहारों से जो युक्त हो वह (काऊलेसं) कापोत लेश्या को (परिणमे) परिणमित होता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! जो बोलने में सीधा न बोलता हो, व्यापार भी जिसका टेढ़ा हो दूसरे को न जान पड़े ऐसे मानसिक कपट से व्यवहार करता हो, सरलता जिसके दिल को छूकर भी न निकली हो, अपने दोषों को ढँकने की भरपूर चेष्टा जो करता हो; जिस के दिन भर के सारे कार्य छल कपट से भरे पड़े हों, जिसके मन में मिथ्यात्व की अभिरुचि बनी रहती हो, जो अमानुषिक कामों को भी कर बैठता हो, जो वचन ऐसे बोलता हो, कि जिस से प्राणि मात्र को त्रास होता हो, दूसरों की वस्तु को चुराने में ही अपने मानव जन्म की सफलता समझता हो, मात्सर्य से युक्त हो, इस प्रकार के व्यवहारों में जिस आत्मा की प्रवृत्ति हो, वह कापोत लेशी कहलाता है । ऐसी भावना रखने वाला चाहे पुरुष हो या स्त्री, वह मर कर अधोगति में जावेगा । हे गौतम ! तेजो लेश्या के सम्बन्ध में यों है ।

मूलः-नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥८॥
पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए ।
एयजोगसमाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे ॥९॥

छायाः-नीचवृत्तिरचपलःअमाय्यकुतूहलः ।
विनीताविनयो दान्तः,योगवानुपधानवान् ॥८॥
प्रियधर्मा दृढधर्मा, अवद्यभीरुर्हितैषिकः ।
एतद्योगसमायुक्तः,तेजो लेश्यां तु परिणमेत् ।९।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नीयावित्ती) जिस की वृत्ति नम्र स्वभाव वाली हो (अचवले) अचपल (अमाई) निष्कपट (अकुऊहले) कुतुहल से रहित (विणीयविणए) अपने बड़ों का विनय करने में विनीत वृत्तिवाला (दंते) इन्द्रियों को दमन करने वाला (जोगवं) शुभ योगों को लाने वाला (उवहाणवं) शास्त्रीय विधि से तप करने वाला (पियधम्मे) जिसकी धर्म में प्रीति हो, (दढधम्मे) दृढ है मन धर्म में जिसका (अवज्जभीरू) पाप से डरनेवाला (हिएसए) हित को ढूँढने वाला, मनुष्य (तेऊलेसं) तेजो लेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है ।

भावार्थः-हे आर्य ! जिसकी प्रकृति नम्र है, जो स्थिर बुद्धिवाला है, जो निष्कपट है, हंसी मज़ाक करने का जिसका स्वभाव नहीं है, वड़ों का विनय कर जिसने विनीत की उपाधि प्राप्त करली है, जो जितेन्द्रिय है, मानसिक, वाचिक,

और कायिक इन तीनों योगों के द्वारा जो कभी किसी का अहित न चाहता हो. शास्त्रीय विधि विधान युत् तपस्या करने में दत्त चित्त रहता हो, धर्म में सदैव प्रेम भाव रखता हो, चाहे उस पर प्राणान्त कष्ट ही क्यों न आजावे, पर धर्म में जो दृढ़ रहता है, किसी जीव को कष्ट न पहुँचे ऐसी भाषा जो बोलता हो, और हितकारी मोक्ष धाम को जाने के लिए शुद्ध क्रिया करने की गवेषणा जो करता रहता हो, वह तेजो लेशी कहलाता है। जो जीव इस प्रकार की भावना रखता हो वह मर कर ऊर्ध्वगति अर्थात् परलोक में उत्तम स्थान को प्राप्त होता है। हे गौतम! पद्मलेश्या का वर्णन यों है:-

मूलः-पयणुकोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥१०॥

तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥११॥

छायाः-प्रतनुक्रोधमानश्च, मायालोभौ च प्रतनुकौ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, योगवानुपधानवान्।१०।

तथा प्रतनुवादी च, उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः, पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (पयणुकोहमाणे) पतले हैं क्रोध और मान जिसके (य) और (मायालोभे) माया तथा लोभ भी जिसके (पयणुए) अल्प हैं, (पसंतचित्ते) प्रशान्त है चित जिसका (दंतप्पा) जो आत्मा को दमन

करता है, (जोगवं) जो मन, वच, काया के शुभ योगों को प्रवृत्त करता है. (उवहाणवं) जो शास्त्रीय तप करता है, (तहा) तथा (पयणुवाई) जो अल्प भाषी है. और वह भी सोच विचार कर बोलता है, (य) और (उवसंते) शान्त है स्वभाव जिसका, (य) और (जिइंदिए) जो इन्द्रियों को जीतता हो, (एय जोगसमाउत्तो) इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला जो मनुष्य हो, वह (पम्हलेसं) पद्म लेश्या को (तु परिणमे) परिणामित होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसको क्रोध, मान, माया, लोभ कम हैं, जो सदैव शान्त चित्त से रहता है, आत्मा का जो दमन करता है, मन वचन काया के शुभ योगों में जो अपनी प्रवृत्ति करता है, शास्त्रीय विधि से तप करता है, सोच विचार कर जो मधुर भाषण करता है, जो शरीर के अङ्गोपाङ्गों को शांत रखता है। इन्द्रियों को हर समय जो काबू में रखता है, वह पद्मलेशी कहलाता है । इस प्रकार की भावना का एवं प्रवृत्ति का जो मनुष्य अनुशीलन करता है, वह मनुष्य मर कर ऊर्ध्वगति में जाता है । हे गौतम ! शुक्ल लेश्या का कथन यों है ।

मूल-अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि झायए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥ १२ ॥
सरागो वीयरागो वा, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥ १३ ॥

छाया:-आर्त्तरौद्रे वर्जयित्वा,
धर्मशुक्ले ध्यायति ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा,
समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः॥ १२ ॥
सरागो वीतरागो वा,
उपशान्तो जितेन्द्रियः ।
एतद्योग समायुक्तः,
शुक्ललेश्यांतु परिणमेत् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अट्टरुद्दाणि) आर्त और रौद्र ध्यानों को (वज्जित्ता) छोड़ कर (धम्मसुक्काणि) धर्म और शुक्ल ध्यानों को (झायए) जो चिंतवन करता हो, (पसंतचित्ते) प्रशान्त है चित्त जिसका (दंतप्पा) दमन की है अपनी आत्मा को जिसने (समिए) जो पांच समिति करके युक्त हो, (य) और (गुत्तिसु) तीन गुप्ति से (गुत्ते) गुप्त है (सरागो) जो सराग (वा) अथवा (वीयरागो) वीतराग संयम रखता हो, (उवसंते) शांत हैं चित्त और (जिइंदिए) जो जितेन्द्रिय है, (एयजोगसमाउत्तो) ऐसे आचरणों से जो युक्त है, वह मनुष्य (सुक्कलेसं) शुक्ल लेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है !

भावार्थः-हे आर्य ! जो आर्त और रौद्र ध्यानों को परित्याग करके सदैव धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करता है, क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि के शान्त होने से प्रशान्त हो रहा है चित्त जिसका, सम्यक् ज्ञान दर्शन

एवं चारित्र से जिसने अपनी आत्मा को दमन कर रक्खा है, चलने, बैठने, खाने, पीने, आदि सभी व्यवहारों में संयम रखता है, मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृति से जिसने अपनी आत्मा को गोपी है, सराग यद्वा वीतराग संयम जो रखता है, जिसका चहरा शान्त है, इन्द्रिय जन्य विषयों को विष समझकर उन्हें जिसने छोड़ रक्खे हैं, वही आत्मा शुक्ल लेशी है। यदि इस अवस्था में मनुष्य मरता है तो वह ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है।

मूलः—किराहा नीला काऊ तिरिण वि,
एयाओ अहमलेसाओ ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो,
दुग्गइं उववज्जई ॥ १४ ॥

छायाः—कृष्णा नीला कापोता,
तिस्रोऽप्येता अधर्म लेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः,
दुर्गतिमुपपद्यते ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (किराहा) कृष्ण (नीला) नील (काऊ) कापोत (एयाओ) ये (तिरिण) तीनों (वि) ही (अहमलेसाओ) अधम लेश्याएँ हैं। (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनों (वि) ही लेश्याओं से (जीवो) जीव (दुग्गइं) दुर्गति को (उववज्जई) प्राप्त करता है।

भावार्थः--हे गौतम ! कृष्ण, नील, और कापोत, इन तीनों को ज्ञानी जनों ने अधर्म लेश्याएँ (अधर्मभावनाएँ) कही हैं। इस प्रकार की अधर्म भावनाओं से जीव दुर्गति में जाकर महान् कष्टों को भोगता है। अतः ऐसी बुरी भावनाओं को कभी भी हृदयंगम न होने देना, यही श्रेष्ठ मार्ग है।

मूलः--तेउ पम्हा सुक्का,
तिरिण वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो,
सुग्गइं उववज्जइ ॥ १५ ॥

छायाः--तेजस्वी पद्मा शुक्ला,
तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः,
सुगतिमुपपद्यते ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति !(तेऊ) तेजो (पम्हा) पद्म और (सुक्का) शुक्ल (एयाओ) ये (तिरिण) तीनों (वि) ही (धम्म लेसाओ) धर्म लेश्याएँ हैं। (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनों (वि) ही लेश्याओं से (जीवो) जीव (सुग्गइं) सुगति को (उववज्जइ) प्राप्त करता है।

भावार्थः--हे आर्य! तेजो, पद्म, और शुक्ल, ये तीनों, ज्ञानी जन द्वारा धर्म लेशाएँ (धर्म भावनाएँ) कही गयी हैं। इस

प्रकार धर्म भावना रखने से वह जीव यहाँ भी प्रशंसा का पात्र होता है, और मरने के पश्चात भी वह सुगति ही में जाता है। अतएव मनुष्य को चाहिए, कि वे अपनी भावनाओं को सदा शुभ या शुद्ध रक्खें। जिससे उस आत्मा को मोक्ष धाम मिलने में विलम्ब न हो।

मूलः—अन्तमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥१६॥

छायाः—अन्तर्मुहूर्त्ते गते,
अन्तर्मुहूर्त्ते शेषे चैव ।
लेश्याभिः परिणताभिः,
जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (परिणयाहिं) परिणमित हो गयी है (लेसाहिं) लेश्या जिसके ऐसा (जीवा) जीव (अंतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त्त (गए) होने पर (चेव) और (अंतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त्त (सेसए) अवशेष रहने पर (परलोयं) परलोक को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थः—हे आर्य! मनुष्य और तिर्यंचों के अन्तिम समय में, योग्य वा अयोग्य, जिस किसी भी स्थान पर उन्हें जाना होता है उसी स्थान के अनुसार उसकी भावना मरने के अन्तर्मुहूर्त्त पहले आती है। और वह भावना उसने अपने जीवन में भले और बुरे कार्य किये होगें उसी के अनुसार

अन्तिम समय में वैसी ही लेश्या (भावना) उसकी होगी और देवलोक तथा नरक में रहे हुए देव और नेरिया मरने के अन्तर्मुहूर्त्त पहले अपने स्थानानुसार लेश्या (भावना) ही में मरेंगे।

मूलः—तम्हा एयासि लेसाणं,
अणुभावं वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता,
पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥१७॥

छायाः-तस्मादेतासां लेश्यानां,
अनुभावं विज्ञाय।
अप्रशस्तास्तु वर्जयित्वा,
प्रशस्ता अधितिष्ठन् मुनिः ॥१७॥

अन्वयार्थः-(तम्हा) इसलिए (एयासि) इन (लेसाणं) लेश्याओं के (अणुभावं) प्रभाव को (वियाणि-या) जान कर (अप्पसत्थाओ) बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को (वज्जित्ता) छोड़ कर (पसत्था) अच्छी प्रशस्त लेश्याओं को (मुणी) मुनि (अहिट्ठिए) अंगीकार करे।

भावार्थः—हे भले बुरे के फल जानने वाले ज्ञानी साधु जनो ! इस प्रकार छओं लेश्याओं का स्वरूप समझ कर इन में से बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को तो कभी भी अपने हृदय तक में फटकने मत दो और अच्छी भाव-नाओं को सदैव हृदयंगम करके रक्खो इसी में मानव जीवन की सफलता है।

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन।

(अध्याय तेरहवां)

कषाय-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ,
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ १ ॥

छायाः-क्रोधश्च मानश्चातिगृहीतौ,
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः,
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अणिग्गहीआ) अनिग्रहीत (कोहो) क्रोध (अ) और (माणो) मान (पवड्ढमाणा) बढ़ता हुआ (माया) कपट (अ) और (लोभो) लोभ (एए) ये (कसिणा) सम्पूर्ण (चत्तारि) चारों ही (कसाया) कषाय (पुणब्भवस्स) पुनर्जन्म रूप वृक्ष के (मूलाइं) मूलों को (सिंचंति) सींचते हैं।

भावार्थः--हे आर्य ! जिसका निग्रह नहीं किया है ऐसा क्रोध और मान तथा बढ़ता हुआ कपट और लोभ ये चारों ही सम्पूर्ण कषाय पुनः पुनःजन्म मरण रूप वृक्ष के मूलों को हरा भरा रखते हैं। अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों ही कषाय दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं।

मूलः-जे कोहणे होइ जगय भासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए घासति पावकम्मी ॥२॥

छायाः-यः क्रोधनो भवति जगदर्थभाषी,
व्यपशमितं यस्तु उदीरयेत् ।
अन्ध इव सदण्डपथं गृहीत्वा,
अव्यपशमितं घृष्यति पापकर्मा ॥ २ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (कोहणे) क्रोधी (होइ) होता है वह (जगयभासी) जगत् के अर्थ को कहने वाला है (उ) और (जे) वह (विओसियं) उपशान्त क्रोध को (उदीरएज्जा) पुनः जागृत करता है। (व) जैसे (अंधे) अन्धा (दंडपहं) लकड़ी (गहाय) ग्रहण कर मार्ग में पशुओं से कष्ट पाता हुआ जाता है, ऐसे ही (से) वह (अविओसिए) अनुपशान्त (पावकम्मी) पाप करने वाला (घासति) चतुर्गति रूप मार्ग में कष्ट उठाता है।

भावार्थ:--हे गौतम ! जिसने बात बात में क्रोध करने का स्वभाव कर रक्खा है, वह जगत् के जीवों में अपने कर्मों से लूलापन, अंधापन, बधिरता, आदि न्यूनताओं को अपनी जिह्वा के द्वारा सामने रख देता है। और जो कलह उपशान्त हो रहा है, उस को पुनः चेतन कर देता है। जैसे अन्धा मनुष्य लकड़ी को लेकर चलते समय मार्ग में पशुओं आदि से कष्ट पाता है, ऐसे ही वह महाक्रोधी चतुर्गति रूप मार्ग में अनेक प्रकार के जन्म मरणों का दुख उठाता रहता है।

मूल:–जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥ ३ ॥

छाया:–यश् चापि आत्मानं वसुमान् मत्त्वा,
संख्यां च वादमपरीक्ष्य कुर्यात् ।
तपसा वाऽहं सहित इति मत्वा,
अन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम् ॥३॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जे आवि) जो अल्प मति है, वह (अप्पं) अपनी आत्मा को (वसुमंति) संयम वान् है, ऐसा (मत्ता) मान कर और (संखाय) अपने को ज्ञानवान् समझता हुआ (अप्परिक्ख) परमार्थ को नहीं जान कर (वायं) वाद विवाद करता है। (अहं) मैं

(तवेण) तपस्या करके (सहिउत्ति) सहित हूँ, ऐसा (मत्ता) मान कर (अण्णं) दूसरे (जणं) मनुष्य को (बिंबभूयं) केवल आकार मात्र (पस्सति) देखता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो अल्प मतिवाला मनुष्य है, वह अपने ही को संयमवान् समझता है, और कहता है, कि मेरे समान संयम रखने वाला कोई दूसरा है ही नहीं । जिस प्रकार मैं ज्ञानवाला हूँ, वैसा दूसरा कोई है ही नहीं, इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटता फिरता है। तथा तपवान् भी मैं ही हूँ, ऐसा मान कर वह दूसरे मनुष्य को गुणशून्य और केवल मनुष्याकार मात्र ही देखता है । इस प्रकार मान करने से वह मानी, पायी हुई वस्तु से हीनावस्था में जा गिरता है ।

मूलः—पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवइ पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥४॥

छायाः—पूजनार्थी यशस्कामी, मानसन्मानकामुकः ।
बहु प्रसूते पापं, मायाशल्यं च कुरुते ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पूयणट्ठा) ज्यों की त्यों अपनी शोभा रखने के अर्थ (जसोकामी) यश का कामी और (माणसम्माण) मान सम्मान का (कामए) चाहने वाला (बहुं) बहुत (पावं) पाप (पसवइ) पैदा करता है (च) और (मायासल्लं) कपट, शल्य को (कुव्वइ) करता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य पूजा, यश, मान और सम्मान का भूखा है, वह इन की प्राप्ति के लिए अनेक तरह के प्रपंच करके अपने लिए पाप पैदा करता है और साथ ही कपट करने में भी वह कुछ कम नहीं उतरता है।

मूलः-कसिणं पि जो इमं लोगं,
पडिपुरणं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥ ५ ॥

छायाः-कृत्स्नमपि य इमं लोकं,
प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै।
तेनापि स न संतुष्येत्,
इति दुःपूरकोऽयमात्मा ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति (जो) यदि (इक्कस्स)एक मनुष्य को (पडिपुरणं) धन धान से परिपूर्ण (इमं) यह (कसिणं पि) सारा ही (लोगं) लोक (दलेज्ज) दे दिया जाय तो (तेणावि) उस से भी (से) वह (न) नहीं (संतुस्से) संतोषित होता है। (इइ) इस प्रकार से (इमे) यह (आया) आत्मा (दुप्पूरए) इच्छा से पूर्ण नहीं हो सकता है।

भावार्थः-हे गौतम ! वैश्रमण देव किसी मनुष्य को हीरे, पन्ने, माणिक, मोती तथा धन धान से भरी हुई सारी

पृथ्वी दे देवे तो भी उससे उसको संतोष नहीं हो सकता है। अतः इस आत्मा की इच्छा को पूर्ण करना महान् कठिन है।

मूलः—सुव्वण्णरुप्पस उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिआ॥६॥

छायाः—सुवर्णरूप्ययोः पर्वता भवेयुः,
स्यात्कदाचित्खलु कैलाशसमा असंख्यकाः
नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्,
इच्छा हि आकाशसमा अनन्तिका ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (केलाससमा) कैलश पर्वत के समान (सुवण्णरुप्पस्स) सोने, चांदी के (असंखया) अगणित (पव्वया) पर्वत (हु) निश्चय (भवे) हो और वे (सिया) कदाचित् मिल गये, तदपि (तेहि) उस से (लुद्धस्स) लोभी (नरस्स) मनुष्य की (किंचि) किंचित् मात्र भी तृप्ति (न) नहीं होती है, (हु) क्योंकि (इच्छा) तृष्णा (आगाससमा) आकाश के समान (अणंतिया) अनंत है।

भावार्थः—हे गौतम ! कैलाश पर्वत के समान लम्बे चौड़े असंख्य पर्वतों के जितने सोने चांदी के ढेर किसी लोभी

मनुष्य को मिल जाय तो भी उसकी तृष्णा पूर्ण नहीं होती है। क्योंकि जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं है, उसी प्रकार इस तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता है।

मूलः—पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥७॥

छायाः—पृथिवी शालियवाश्चैव, हिरण्यं पशुभिःसह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (साली) शालि (जव) सहित (चेव) और (पसुभिस्सह) पशुओं के साथ (हिरिण्णं) सोने वाली (पडिपुण्णं) सम्पूर्ण भरी हुई (पुढवी) पृथ्वी (एगस्स) एक की तृष्णा को बुझाने के लिए (नालं) समर्थवान् नहीं है। (इइ) इस तरह (विज्जा) जान कर (तवं) तप रूप मार्ग में (चरे) विचरण करना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! शालि, जव सोना, चांदी और पशुओं से परिपूर्ण पृथ्वी भी किसी एक मनुष्य की इच्छा को तृप्त करने में समर्थ नहीं है। ऐसा जान कर तप रूप मार्ग में घूमते हुए लोभदशा पर विजय प्राप्त करना चाहिए। इसी से आत्मा की तृप्ति होती है।

मूलः—अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥८॥

छाया:-अधोव्रजति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः ।
मायया सुगति प्रतिघातः, लोभाद् द्विधा भयम् ॥८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! आत्मा (कोहेणं) क्रोध से (अहे) अधोगति में (वयइ) जाता है (माणेणं) मान से उस को (अहमा) अधम (गई) गति मिलती है (माया) कपट से (गइपडिग्घाओ) अच्छी गति का प्रतिघात होता है। (लोहाओ) लोभ से (दुहओ) दोनों भव संबंधी (भयं) भय प्राप्त होता है।

भावार्थः--हे आर्य ! जब आत्मा क्रोध करता है, तो उस क्रोध से उसे नरक आदि स्थानों की प्राप्ति होती है। मान करने से वह अधम गति को प्राप्त करता हैं। माया करने से पुरुषत्व या देवगति आदि अच्छी गति मिलने में रुकावट होती है और लोभ से जीव इस भव एवं पर भव संबंधी भय को प्राप्त होता है।

मूल:-कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥९॥

छाया: क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः ।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ॥९॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (कोहो) क्रोध (पीइं) प्रीति को (पणासेइ) नाश करता है (माणो) मान (विणय)

विनय को (नासणो) नाश करने वाला है। (माया) कपट (मित्ताणि) मित्रता को (नासेइ) नष्ट करता है। और (लोभो) लोभ (सव्व) सारे सद्गुणों का (विणासणो) विनाशक है।

भावार्थः-हे गौतम ! क्रोध ऐसा बुरा है, कि वह परस्पर की प्रीति को क्षण भर में नष्ट कर देता है। मान विनम्र भाव को कभी अपनी ओर झाँकने तक भी नहीं देता। कपट से मित्रता का भंग हो जाता है, और लोभ सभी गुणों का नाश कर देता है। अतः क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों ही दुर्गुणों से अपनी आत्मा को सदा सर्वदा बचाते रहना चाहिए।

मूलः-उवसमेण हणे कोहं,
माणं मद्दवया जिणे।
मायं मज्जवभावेण,
लोभं संतोसओ जिणे ॥ १० ॥

छायाः-उपशमेन हन्यात् क्रोधं,
मानं मार्दवेन जयेत्।
माया मार्जवभावेन,
लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (उवसमेण) उपशान्त "क्षमा" से (कोहं) क्रोध का (हणे) नाश करे (मद्दवया)

नम्रता से (माणं) मान को (जिणे) जीते (मज्जव) सरल (भावेण) भावना से (मायां) कपट को और (संतोसओ) संतोष से (लोभं) लोभ को (जिणे) पराजित करना चाहिए ।

भावार्थः-हे आर्य ! इस क्रोध रूप चाण्डाल को क्षमा से दूर भगाओ और विनम्र भावों से इस मान का मद नाश करो । इसी प्रकार सरलता से कपट को और संतोष से लोभ को पराजित करो । तभी वह मोक्ष प्राप्त होगा जहाँ पर कि गये बाद, वापिस दुखों में आने का काम नहीं ।

मूलः-असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एअं वियाणाहि जणा पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिंति ॥११॥

छायाः-असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः,
जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम् ।
एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः,
किं नु विहिंसा अयता गमिष्यन्ति ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जीविय) यह जीवन (असंखयं) असंस्कृत है । अतः (मा पमायए) प्रमाद मत करो (हु) क्योंकि (जरोवणीयस्स) वृद्धावस्था वाले पुरुष को किसी की (ताणं) शरण (नत्थि) नहीं है (एअं)

ऐसा तू (वियाणाहि) अच्छी तरह से जान ले (पमत्ते) जो प्रमादी (विहिंसा) हिंसा करने वाले (अजया) अजितेन्द्रिय (जणे) मनुष्य हैं, वे (नु) बेचारे (कं) किसकी शरण (गहिंति) ग्रहण करेंगे।

भावार्थः-हे गौतम! इस मानव जीवन के टूट जाने पर न तो पुनः इसकी संधि हो सकती है, और न यह बढ़ ही सकता है। अतः धर्माचरण करने में प्रमाद मत करो। यदि कोई वृद्धावस्था में किसी की शरण प्राप्त करना चाहे तो इस में भी वह असफल होता है। भला फिर जो प्रमादी और हिंसा करने वाले अजितेन्द्रिय मनुष्य हैं, वे परलोक में किस की शरण ग्रहण करेंगे? अर्थात्-वहाँ के होने वाले दुखों से उन्हें कौन छुड़ा सकेगा? कोई भी बचाने वाला नहीं है।

मूलः-वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठेव अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥ १२ ॥

छायाः-वित्तेन त्राणं न लभेत प्रमत्तः,
अस्मिंल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्तमोहः,
नैयायिकं दृष्ट्वाऽप्यदृष्ट्वेव ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (पमत्ते) वह प्रमादी मनु-

ष्य (इमम्मि) इस (लोए) लोक में (अहुवा) अथवा (परत्था) परलोक में (वित्तेण) द्रव्य से (ताणं) त्राण (शरण) (न) नहीं (लभे) पाता है (अणंतमोहे) वह अनंत मोहवाला (दीवप्पणट्ठेव) दीपक के नाश हो जाने पर (नेऽयाउअं) न्यायकारी मार्ग को (दट्ठुमदट्ठुमेव) देखने पर भी न देखने वाले के समान है।

भावार्थः–हे गौतम! धर्म-साधन करनेमें आलस्य करने वाले प्रमादी मनुष्यों की इस लोक और परलोक में द्रव्य के द्वारा रक्षा नहीं हो सकती है। प्रत्युत वे अनंत मोही पुरुष, दीपक के नाश हो जाने पर न्यायकारी मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखने वाले के समान हैं।

मूलः–सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपण्णे ।

---

(१) जैसे धातु ढूँढ़ने वाले मनुष्य दीपक को लेकर पर्वत की गुफ़ा की ओर गये, और उस दीपक से गुफ़ा देख भी ली, परन्तु उस में प्रवेश होने पर उस दीपक की उन्होंने कोई पर्वाह न की। उनके आलस्य से दीपक बुझ गया, तब तो उन्हों ने अँधेरे में इधर उधर भटकते हुए प्राणान्त कष्ट पाया। इसी तरह प्रमादी जीव धर्म के द्वारा मुक्ति पथ को देख लेने पर भी उस धर्म की द्रव्य के लोभ वश फिर उपेक्षा कर बैठते हैं। वहाँ वे जन्मजन्मान्तरों में प्राणान्त जैसे कष्टों को अनेकों बार उठाते रहेंगे।

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरऽप्पमत्तो ॥१२॥

छायाः-सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी,
न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोरा मुहूर्त्ता अबलं शरीरं,
भारण्डपक्षीव चराऽप्रमत्तः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आसुपण्णे) तीक्ष्ण बुद्धि वाला (पडिबुद्धजीवी) द्रव्य निन्द्रा रहित तत्वों का जानकार (पंडिए) पण्डित पुरुष (सुत्तेसुयावी) द्रव्य और भाव ने जो सोते हुए प्रमादी मनुष्य हैं, उनका (न) नहीं (विससे) विश्वास करे, अनुकरण करे, क्योंकि (मुहुत्ता) समय आयुक्षरण करने में (घोरा) भयंकर है। और (सरीरं) शरीर भी (अबलं) बल रहित है। अतः (भारंडपक्खीव) भारंड पक्षी की तरह (अप्पमत्तो) प्रमाद रहित (चर) संयम में विचरण कर।

भावार्थः-हे गौतम ! द्रव्य निंद्रा से जागृत तीक्ष्ण बुद्धिवाले पण्डित पुरुष जो होते हैं, वे द्रव्य और भाव से नींद लेनेवाले प्रमादी पुरुषों के आचरणों का अनुकरण नहीं करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं, कि समय जो है वह मनुष्य का आयु कम करने में भयङ्कर है। और यह भी नहीं है, कि यह शरीर मृत्यु का सामना कर सके। अतएव जिस प्रकार भारंड पक्षी अपना चुगा चुगने में प्रायः प्रमाद नहीं करता

है उसी तरह तुम भी प्रमाद रहित होकर संयमी जीवन बिताने में सफलता प्राप्त करो ।

मूलः-जे गिद्धे कामभोएसु,एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए,चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥१४॥

छायाः-यो गृद्धः कामभोगेषु, एकः कूटाय गच्छति ।
न मया दृष्टः परलोकः, चक्षुर्दृष्टेयं रतिः ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (एगे) कोई एक (कामभोएसु) काम भोगों में (गिद्धे) आसक्त होता है, वह (कूडाय) हिंसा और मृषा भाषा को (गच्छइ) प्राप्त होता है, फिर उससे पूछने पर वह बोलता है, कि (मे) मैंने (परेलोए) परलोक (न) नहीं (दिट्ठे) देखा है। (इमा) इस (रइ) पौद्गलिक सुख को (चक्खुदिट्ठा) प्रत्यक्ष आखों से देख रहा हूँ ।

भावार्थः-हे आर्य ! जो काम भोग में सदैव लीन रहता है वह हिंसा झूँठ आदि से बचा हुआ नहीं रहता है । यदि उनसे कहा जाय कि हिंसादि कर्म करोगे तो नरक में दुख उठाओगे और सत्कर्म करोगे तो स्वर्ग में दिव्य सुख भोगोगे। ऐसा कहने पर वह प्रमादी बोल उठता है कि मैंने कोई भी स्वर्ग नरक नहीं देखे हैं, कि जिनके लिए इन प्रत्यक्ष काम भोगों का आनंद छोड़ बैठूँ ।

मूलः-हत्थागया इमे कामा,
कालिआ जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए,
अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१५॥

छायाः-हस्तागता इमे कामाः,
कालिका येऽनागताः ।
को जानाति परः लोकः,
अस्ति वा नास्ति वा पुनः ॥१५॥

अन्वयार्थः-हे धर्म तत्वज्ञ ! (इमे) ये (कामा) काम भोग (हत्थागया) हस्तगत हो रहे हैं, और इन्हें त्यागने पर (जे) जो (अणागया) आगामी भव में सुख होगा, यह तो (कालिआ) भविष्यत् की बात है (पुणो) तो फिर (को) कौन (जाणइ) जानता है (परेलोए) परलोक (अत्थि) है (वा) अथवा (नत्थि) नहीं है ।

भावार्थः-अज्ञानी नास्तिक इस प्रकार कहते हैं कि हे धर्म के तत्व को जानने वालों ! ये काम भोग जो प्रत्यक्ष रूप में मुझे मिल रहे हैं । और जिन्हें त्याग देने पर आगामी भव में इस से भी बढ़ कर तथा आत्मिक सुख प्राप्त होगा, ऐसा तुम कहते हो; परन्तु यह तो भविष्यत् की बात है । और फिर कौन जानता है, कि नरक स्वर्ग और मोक्ष है या नहीं ?

मूलः—जणेण सद्धिं होक्खामि,
इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएणं,
केसं संपडिवज्जइ ॥१६॥

छायाः—जनेन सार्द्धं भविष्यामि,
इति बालः प्रगल्भते ।
कामभोगानुरागेण,
क्लेशं सः सम्प्रतिपद्यते ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जणेण सद्धिं) इतने मनुष्यों के साथ मेरा भी (होक्खामि) जो होना होगा, सो होगा. (इइ) इस प्रकार (बाले) वे अज्ञानी (पगब्भइ) बोलते हैं, पर वे आखिर (कामभोगाणुराएणं) काम भोगों के अनुराग के कारण (केसं) दुःख ही को (संपडिवज्जइ) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः हे गौतम ! वे अज्ञानी जन इस प्रकार फिर बोलते हैं. कि इतने दुष्कर्मी लोगों का परलोक में जो होगा, वह मेरा भी हो जायगा । इतने सब के सब लोग क्या मूर्ख है ? पर हे गौतम ! आखिर में वे काम भोगों के अनुरागी लोग इस लोक और परलोक में महान् दुखों को भोगते हैं ।

मूलः—तओ से दंडं समारभइ,
तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए व अणट्ठाए,
भूयग्गामं विहिंसइ ॥१७॥

छायाः—ततो दण्डं समारभते, त्रसेषु स्थावरेषु च।
अर्थाय चानर्थाय, भूतग्रामं विहिनास्ति ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! यों स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना मान करके (तओ) उसके बाद (से) वह मनुष्य (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरेसु) स्थावर जीवों के विषय में (अट्ठाए) प्रयोजन से (व) अथवा (अणट्ठाए) बिना प्रयोजन से (दंडं) मन, वचन, काया के दण्ड को (समारभइ) समारंभ करता है। और (भूयग्गामं) प्राणियों के समूह का (विहिंसइ) वध करता है।

भावार्थः—हे आर्य! नास्तिक लोग प्रत्यक्ष भोगों को छोड़ कर भविष्यत् की कौन आश करे, इस प्रकार कह कर, अपने दिल को कठोर बना लेते हैं। फिर वे हलते चलते त्रस जीवों और स्थावर जीवों की प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन से, हिंसा करने के लिए, मन, वचन, काया के योगों को प्रारम्भ कर असंख्य जीवों की हिंसा करते हैं।

मूलः—हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेअं ति मन्नई ॥१८॥

छाया:-हिंस्रो बालो मृषावादी,
माथी च पिशुनः शठः ।
भुञ्जानः सुरां मांसं,
श्रेयो मे इदमिति, मन्यते ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! स्वर्ग नरक को न मान कर वह (हिंसे) हिंसा करने वाला (बाले) अज्ञानी (मुसावाइ) फिर झूठ बोलता है (माइल्ल) कपट करता है, (पिसुणे) निन्दा करता है (सढे) दूसरों को ठगने की करतून करता रहता है (सुरं) मदिरा (मंसं) माँस (भुंजमाणे) भोगता हुआ (सेयमेअं) श्रेष्ठ है (ति) ऐसा (मन्नइ) मानता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना करके वह अज्ञानी जीव हिंसा करने के साथ ही साथ झूँठ बोलता है, प्रत्येक बात में कपट करता है । दूसरों की निंदा करने में अपना जीवन अर्पण कर बैठता है । दूसरों को ठगने में अपनी सारी बुद्धि खर्च कर देता है । और मदिरा एवं मांस खाता हुआ भी अपना जीवन श्रेष्ठ मानता है ।

मूल:-कायसा वयसा मत्ते,
वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ,
सिसुणागु व्व मट्टियं ॥१९॥

छाया:- कायेन वचसा मत्तः,
विते गृद्धश्च स्त्रीषु ।
द्विधा मलं सञ्चिनोति,
शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥१६॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति ! वे नास्तिक लोग (कायसा) काय से (वायसा) वचन से (मत्ते) गर्वान्वित होने वाला (वित्ते) धन में (य) और (इत्थिसु) स्त्रियों में (गिद्ध) आसक्त हो वह मनुष्य (दुहओ) राग द्वेष के द्वारा (मलं) कर्म मल को (संचिणइ) इकट्ठा करता है (व्व) जैसे (सिसुणागु) शिशूनाग "अलसिया" (मट्टियं) मिट्टी से लिपटा रहता है ।

भावार्थ –हे आर्य ! मन वचन और काया से गर्व करने वाले वे नास्तिक लोग धन और स्त्रियों में आसक्त हो कर रागद्वेष से गाढ़ कर्मों का अपनी आत्मा पर लेप कर रहे हैं। पर उन कर्मों के उदय काल में, जैसे अलसिया मिट्टी से उत्पन्न हो कर, फिर मिट्टी ही से लिपटाता है, किन्तु सूर्य की आतापना से मिट्टी के सूखने पर वह अलसिया महान् कष्ट उठाता है, उसी तरह वे नास्तिक लोग भी जन्म जन्मान्तरों में महान् कष्टों को उठावेंगे।

मूलः–तओ पुट्ठो आयंकेण;
गिलाणो परितप्पइ ।

पभीओ परलोगस्स;
कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥२०॥

छायाः--ततः स्पृष्ट आतङ्केन,
ग्लानः परितप्यते ।
प्रभीतः परलोकात्,
कर्मानुप्रेक्ष्यात्मनः ॥ २० ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! कर्म बाँध लेने के (तओ) पश्चात् (आयंकेण) असाध्य रोगों से (पुट्ठो) घिरा हुआ, वह नास्तिक (गिलाणो) ग्लानि पाता है और (परलोगस्स) परलोक के भय से (पभीओ) डरा हुआ (अप्पणो) अपने किये हुए (कम्माणुप्पेहि) कर्मों को देख कर (परितप्पइ) खेद पाता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! पहले तो ऐसे नास्तिक लोग विषयों के लोलुप हो कर कर्म बाँध लेते हैं, फिर जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है तो असाध्य रोगों से घिर जाते हैं । उस समय उन्हें बड़ी ग्लानि होती है । नर्कादि के दुखों से वे बड़े घबराते हैं और अपने किये हुए बुरे कर्मों के फलों को देख कर अत्यन्त खेद पाते हैं ।

मूलः-सुआ मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥२१॥

छाया:-श्रुतानि मया नरकस्थानानि,
अशीलानां च या गतिः ।
बालानां क्रूरकर्मणां,
प्रगाढा यत्र वेदना ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! वे बोलते हैं, कि (जत्थ) जहाँ पर उन (कूरकम्माणं) क्रूर कर्मों के करने वाले (बालाणं) अज्ञानियों को (पगाढा) प्रगाढ़ (वेयणा) वेदना होती है । मैंने (नरए) नरक में (ठाणा) कुंभी, वैतरणी, आदि जो स्थान हैं, वे (सुआ) सुने हैं, (च) और (असीलाणं) दुराचारियों की (जा) जो (गई) नारकीय गति होती है उसे भी सुना है ।

भावार्थः-हे आर्य ! नास्तिकजन नर्क और स्वर्ग किसी को भी न मान कर खूब पाप करते हैं । जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है तो उनको कुछ असारता मालूम होने लगती है । तब वे बोलते हैं कि सच है, हमने तत्वज्ञों द्वारा सुना है, कि नरक में पापियों के लिए कुम्भियाँ, वैतरणी नदी आदि स्थान हैं और उन दुष्कर्मियों की जो नारकीय गति होती है, वहाँ क्रूरकर्मी अज्ञानियों को प्रगाढ़ वेदना होती है ।

मूल:-सव्वं वि लविअं गीअं;
सव्वं नट्टं विडंबिअं ।

सव्वे आहरणा भारा;
सव्वे कामा दुहावहा ॥ २२ ॥

छायाः-सर्वं विलपितं गीतं,
सर्वं नृत्यं विडम्बितम् ।
सर्वाण्याभरणानि भाराः,
सर्वे कामा दुःखावहाः ॥२२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सव्वं) सारे (गीअं) गीत (विलविअं) विलाप के समान है। (सव्वं) सारे (नट्टं) नृत्य (विडंविअं) विडम्बना रूप हैं। (सव्वे) सारे (आहरणा) आभरण (भारा) भार के समान हैं । और (सव्वे) सम्पूर्ण (कामा) काम भोग (दुहावहा) दुख प्राप्त कराने वाले हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! सारे गीत विलाप के समान हैं। सारे नृत्य विडम्बना के समान हैं। सारे रत्न जड़ित आभरण भार रूप हैं। और सम्पूर्ण काम भोग जन्म जन्मांतरों में दुख देने वाले हैं।

मूलः-जहेह सीहो व मिअं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिआ व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवंति ॥२३॥

छाया:-यथेह सिंह इव मृगं गृहीत्वा,
मृत्युर्नरं नयति ह्यन्तकाले ।
न तस्य माता वा पिता वा भ्राता,
काले तस्यांशधरा भवन्ति ॥२३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (इह) इस संसार में (जहा) जैसे (सीहो) सिंह (मिअं) मृग को (गहाय) पकड़ कर उसका अन्त कर डालता है (व) वैसे ही (मच्चू) मृत्यु (हु) निश्चय करके (अन्तकाले) आयुष्य पूर्ण होने पर (नरं) मनुष्य को (नेइ) परलोक में ले जाकर पटक देती है। (कालम्मि) उस काल में (माया) माता (वा) अथवा (पिआ) पिता (व) अथवा (भाया) भ्राता (तम्मंसहरा) उस के दुख को अंश मात्र भी बँटाने वाले (न) नहीं (भवंति) होते हैं।

भावार्थ-हे आर्य! जिस प्रकार सिंह भागते हुए मृग को पकड़ कर उसे मार डालता है। इसी तरह मृत्यु भी मनुष्य का अन्त कर डालती है। उस समय उस के माता, पिता भाई आदि कोई भी उसके दुख का बँटवारा करके भागीदार नहीं बनते। अपनी निजी आयु में से आयु का कुछ भाग दे कर मृत्यु से उसे बचा नहीं सकते हैं।

मूलः—इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं ।

तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥२४॥

छाया:-इदं च मेऽस्ति, इदम् च नास्ति,
इदं च कृत्यमिदमकृत्यम् ।
तमेवमेवं लालप्यमानं,
हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ॥२४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (इमं) यह (मे) मेरा (अत्थि) है, (च) और (इमं) यह घर (मे) मेरा (नत्थि) नहीं है, यह (किच्चं) करने योग्य है (च) और (इमं) यह व्यापार (अकिच्चं) नहीं करने योग्य है, (एवमेवं) इस प्रकार (लालप्पमाणं) बोलनेवाले प्रमादियों के (तं) आयु को (हरा) रात दिन रूप चोर (हरंति) हरण कर रहे हैं (त्ति) इस लिए (कहं) कैसे (पमाए) प्रमाद कर रहे हो ?

भावार्थः-हे गौतम ! यह मेरा है, यह मेरा नहीं है यह काम करने का है और यह बिना लाभ का व्यापार आदि मेरे नहीं करने का है । इस प्रकार बोलने वालों का आयु तो रात दिन रूप चोर हरण करते जा रहे हैं । फिर प्रमाद क्यों करते हो ? अर्थात् एक ओर मेरे-तेरे की कल्पना और करने न करने के सकल्प चालू बने रहते हैं और दूसरी ओर काल रुपी चोर जीवन को हरण कर रहा है अतः शीघ्र ही सावधान हो कर परमार्थ-साधन में लग जाना चाहिए ।

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

(अध्याय चौदहवां)

वैराग्य सम्बोधन

॥ भगवान् श्री ऋषभोवाच ॥

मूलः-संबुज्झह किं न बुज्झह,
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा,
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

छायाः-संबुध्यध्वं किं न बुध्यध्वं,
सम्बोधिःखलु प्रेत्य दुर्लभा ।
नो खलूपनमन्ति रात्रयः,
नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ॥१॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (संबुज्झह) धर्म बोध करो (किं) सुविधा पाते हुए क्यों (न) नहीं (बुज्झह) बोध

करते हो ? क्योंकि (पेच्च) परलोक में (खलु) निश्चय ही (संबोही) धर्म-प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है । (राइओ) गयी हुई रात्रि (णो) नहीं (हु) निश्चय (उवणमंति) पीछी आती है । (पुणरावि) और फिर भी (जीवियं) मनुष्य जन्म मिलता (सुलभं) सुगम (न) नहीं है ।

भावार्थः—हे पुत्रो ! सम्यक्त्वरूप धर्म बोध-को प्राप्त करो । सब तरह से सुविधा होते हुए भी धर्म को प्राप्त क्यों नहीं करते ? अगर मानव जन्म में धर्म बोध प्राप्त न किया, तो फिर धर्म-बोध प्राप्त होना महान् कठिन है । गया हुआ समय तुम्हारे लिए वापस लौट कर आने का नहीं, और न मानव जीवन ही सुलभता से मिल सकता है ।

मूलः—डहरा वुड्ढा य पासह,
गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे,
एवमाउ खयम्मि तुट्टई ॥ २ ॥

छायाः—डिंभा वृद्धाः पश्यत,
गर्भस्था अपि त्यजन्ति मानवाः ।
श्येनो यथा वर्त्तकं हरेत्,
एवमायुःक्षये त्रुट्यति ॥ २ ॥

अन्वयार्थः--हे पुत्रो ! (पासह) देखो (डहरा) बालक तथा (बुड्ढा) वृद्ध (चयंति) शरीर त्याग देते हैं। और (गब्भत्था) गर्भस्थ (माणवा वि) मनुष्य भी शरीर त्याग देते हैं (जह) जैसे (सेणे) बाज पक्षी (वट्टयं) बटेर को (हरे) हरण कर ले जाता है (एवं) इसी तरह (आउ ख-यम्मि) उम्र के बीत जाने पर (तुट्टई) मानव-जीवन टूट जाता है।

भावार्थः--हे पुत्रो ! देखो कितनेक तो बालवय में ही तथा कितनेक वृद्धावस्था में अपने मानव-शरीर को छोड़ कर यहां से चल बसते हैं। और कितनेक गर्भावास में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे, बाज पक्षी अचानक बटेर को आ दबोचता है, वैसे ही न मालूम किस समय आयु के क्षय हो जाने पर मृत्यु प्राणों को हरण कर लेगी। अर्थात् आयु के क्षय होने पर मानव-जीवन की शृंखला टूट जाती है।

मूलः-मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया,
आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥ ३ ॥

छायाः-मातृभिः पितृभिर्लुप्यते,
नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्यतु।

एतानि भयानि प्रेक्ष्य,
आरम्भाद्विरमेत्सुव्रतः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः--हे पुत्रो ! माता पिता के मोह में फँस कर जो धर्म नहीं करता है, वह (मायाहिं) माता (पियाहिं) पिता के द्वारा ही (लुप्पइ) परिभ्रमण करता है (य) और उसे (पेच्चओ) परलोक में (सुगई) सुगति मिलना (सुलहा) सुलभ (न) नहीं है। (एयाइं) इन (भयाइं) भयों को (पेहिया) देख कर (आरंभा) हिंसादि आरंभ से (विरमेज्ज) निवृत्त हो, वही (सुव्वए) सुव्रतवाला है।

अन्वयार्थः--हे पुत्रो ! माता पितादि कौटुम्बिक जनों के मोह में फँस कर जिसने धर्म नहीं किया, वह उन्हीं के कारण संसार के चक्र में अनेक प्रकार के कष्टों को उठाता हुआ भ्रमण करता रहता है, और जन्म जन्मान्तरों में भी उसे सुगति का मिलना सुलभ नहीं है । अतः इस प्रकार संसार में भ्रमण करने से होने वाले अनेकों कष्टों को देख कर जो हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि कामों से विरक्त रहे वही मानव-जीवन को सफल करने वाला सुव्रती पुरुष है ।

मूलः--जमिणं जगती पुढो जगा,
कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहइ,
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥ ४ ॥

छायाः-यदिदं जगति पृथक् जगत्,
कर्मभिर्लुप्यन्ते प्राणिनः।
स्वयमेव कृतैर्गाहते नो,
तस्य मुच्यत् अस्पृष्टः ॥ ४॥

अन्वयार्थः--हे पुत्रो! (जमिणं) जो हिंसा से निवृत्त नहीं होते हैं उनको यह होता है, कि (जगती) संसार में (पाणिणो) वे प्राणी (पुढो) पृथक् पृथक् (जगा) पृथ्वी आदि स्थानों में (कम्मेहिं) कर्मों से (लुप्पंति) भ्रमण करते हैं। क्योंकि (सयमेव) अपने (कडेहिं) किये हुए कर्मों के द्वारा (गाहइ) नरकादि स्थानों को प्राप्त करते है। (तस्स) उन्हें (ऽपुट्ठयं) कर्म स्पर्शे अर्थात् भोगे बिना (णो) नहीं (मुच्चेज्ज) छोड़ते हैं।

भावार्थः—हे पुत्रो! जो हिंसादि से मुंह नहीं मोड़ते हैं, वे इस संसार, में पृथ्वी, पानी, नरक और तिर्यञ्च आदि अनेकों स्थानों और योनियों में कष्टों के साथ घूमते रहते हैं। क्योंकि उन्होंने स्वयमेव ही ऐसे कार्य किये हैं, कि जिन कर्मों के भोगे बिना उनका छुटकारा कभी हो ही नहीं सकता है।

मूलः-विरया वीरा समुट्ठिया,
कोहकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो,
पावाओ विरयाभिनिव्वुडा ॥५॥

छायाः- वीरता वीराः समुत्थिताः,
क्रोधकातरिकादिपीषणाः ।
प्राणान्न घ्नन्ति सर्वशः,
पापाद्विरता अभिनिर्वृताः ॥५॥

अन्वयार्थः--हे पुत्रो ! (विरया) जो पौद्गलिक सुखों से विरक्त है और (समुट्ठिया) सदाचार के सेवन करने में सावधान है, (कोहकायरियाइ) क्रोध, माया और उपलक्षण से मान एवं लोभ को (पीसणा) नाश करने वाला है, (सव्वसो) मन, वचन, काया, से जो (पाणे) प्राणों को (ण) नहीं (हणंति) हनता है (पावाओ) हिंसाकारी अनुष्ठानों से जो (विरयाभिनिव्वुडा) विरक्त है और क्रोधादि से उपशान्त है चित्त जिसका, उस को (वीरा) वीर पुरुष कहते हैं ।

भावार्थः-हे पुत्रो ! मार काट या युद्ध करके कोई वीर कहलाना चाहे तो वास्तव में वह वीर नहीं है । वीर तो वह है जो पौद्गलिक सुखों से अपना मन मोड़ लेता है, सदाचार का पालन करने में सदैव सावधानी रखता है, क्रोध, मान, माया, और लोभ इन्हें अपना आन्तरिक शत्रु समझ कर, इनके साथ युद्ध करता रहता है, और उस युद्ध में उन्हें नष्ट कर विजय प्राप्त करता है, मन, वचन, और काया से किसी तरह दूसरों के हक्क में बुरा न हो, ऐसा हमेशा ध्यान रखता रहता है, और हिंसादि आरम्भ से दूर रह कर जो उपशांत चित्त से रहता है ।

मूलः-जे परिभवई परं जणं,
संसारे परिवत्तई महं ।
अदु इंखिणिया उ पाविया,
इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥६॥

छायाः--यः परिभवति परं जनं,
संसारे परिवर्त्तते महत् ।
अत इङ्खिनिका तु पापिका,
इति संख्याय मुनिर्न माद्यतिः ॥६॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (जं) जो (परं) दूसरे (जणं) मनुष्य को (परिभवई) अवज्ञा से देखता है, वह (संसार) संसार में (महं) अत्यन्त (परिवत्तई) परिभ्रमण करता है (अदु) इसलिए (पाविया) पापिनी (इंखिणिया) निंदा को (इति) ऐसी (संखाय) जान कर (मुणी) साधु पुरुष (ण) नहीं (मज्जई) अभिमान करे ।

भावार्थः-हे पुत्रो ! जो मनुष्य अपने से जाति, कुल, बल, रूप आदि में न्यून हो, उसकी अवज्ञा या निन्दा करने से, वह मनुष्य दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जिस वस्तु को पाकर निन्दा की थी, वह पापिनी निन्दा उससे भी अधिक हीनावस्था में पटकनेवाली है । ऐसा जान कर साधु जन न तो कभी दूसरे की निन्दा ही करते हैं, और न, पायी हुई वस्तु ही का कभी गर्व करते हैं ।

मूलः-जे इह सायाणुगनरा,
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया,
न वि जाणंति समाहिमाहितं ॥७॥

छायाः-य इह सातानुगनरा,
अध्युपपन्नाः कामैर्मूर्च्छिताः।
कृपणेन समं प्रगल्भिताः,
न विजानन्ति समाधिमाख्यातम् ॥७॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो (इह) इस संसार में (जे) जो (नरा) मनुष्य (सायाणुग) ऋद्धि, रस साता के (अज्झोववन्ना) साथ (कामेहि) काम भोगों से (मुच्छिया) मोहित हो रहे हैं, और (किवणेण समं) दीन सरीखे (पगब्भिया) धटे हैं वे (आहितं) कहे हुए (समाहिं) समाधि मार्ग को (न) नहीं (वि जाणंति) जानते हैं।

भावार्थः-हे पुत्रो! इस संसार में अनेक प्रकार के वैभवों से युक्त जो मनुष्य है, वे काम भोगों में आसक्त हो कर कायर की तरह बोलते हुए, धर्माचरण में हठीलापन दिखाते हैं, उन्हें ऐसा समझो कि वे वीतराग के कहे हुए समाधि मार्ग को नहीं जानते हैं।

मूलः-अद्दक्खुव दक्खुवाहियं,
सद्दहसु अद्दक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरूद्धदंसणे,
मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥८॥

छायाः-अपश्य इव पश्यव्याख्यातं,
श्रद्धत्स्व अपश्यक दर्शनाः।
हंहो हि सुनिरुद्धदर्शनाः,
मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे पुत्रो! (अद्दक्खुव) तुम अन्धे क्यों बने जा रहे हो! (दक्खुवाहियं) जिनने देखा है उनके वाक्यों में (सद्दहसु) श्रद्धा रक्खो और (हंदि अद्दक्खुदंसणा) हे ज्ञान शून्य मनुष्यो! ग्रहण करो वीतराग के कहे हुए आगमों को। परलोकादि नहीं है, ऐसा कहने वालों के (मोहणिज्जेण) मोहवश (कडेण) अपने किए हुए (कम्मुणा) कर्मों द्वारा (दंसणे) सम्यक् ज्ञान (सुनिरूद्ध) अच्छी तरह ढका है।

भावार्थः--हे पुत्रो! कर्मों के शुभाशुभ फल होते हुए भी जो उसकी नास्तिकता बताता है, वह अन्धा ही है। ऐसे को कहना पड़ता है, कि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपने केवल ज्ञान के बल से स्वर्ग नरकादि देखे हैं, उन के वाक्यों को प्रमाण

भूत, वह माने और उनके कहे हुए वाक्यों को, ग्रहण कर उनके अनुसार अपनी प्रकृति बनावे। हे ज्ञान शून्य मनुष्यो! तुम कहते हो कि वर्तमान् काल में जो होता है, वही है और सब ही नास्तिरूप हैं। ऐसा कहने से तुम्हारे पिता और पितामह की भी नास्तिता सिद्ध होगी। और जब इन की ही नास्ति होगी, तो तुम्हारी उत्पत्ति कैसे हुई? पिता के बिना पुत्र की कभी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अतः भूत काल में भी पिता था, ऐसा अवश्य मानना होगा। इसी तरह भूत और भविष्य काल में नरक स्वर्ग आदि के होने वाले सुख दुख भी अवश्य हैं। कर्मों के शुभाशुभ फल स्वरूप नरक स्वर्गादि नहीं है, ऐसा जो कहता है, उसका सम्यक् ज्ञान मोहवश किये हुए कर्मों से ढँका हुआ है

मूलः-गारं पि अ आवसे नरे,
अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाणं गच्छे सलोगयं ॥ ६ ॥

छायाः-अगारमपि चावसन्नर,
आनुपूर्व्या प्राणेषु संयतः।
समता सर्वत्र सुव्रतः,
देवानां गच्छेत्सलोकताम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः--हे पुत्रो! (गारं पि अ) घर में (आवसे)

रहता हुआ (नरे) मनुष्य भी (अणुपुव्वं) जो धर्म श्रवणादि अनुक्रम से (पाणेहिं) प्राणों की (संजए) यतना करता रहता है (सव्वत्थ) सब जगह (समता) समभाव है जिसके ऐसा (सुव्वते) सुव्रतवान् गृहस्थ भी (देवाणं) देवताओं के (सलोगयं) लोक को (गच्छे) जाता है ।

भावार्थः-हे पुत्रो ! जो गृहस्थावास में रह कर भी धर्म श्रवण करके अपनी शक्ति के अनुसार अपनों तथा परायों पर सब जगह समभाव रखता हुआ प्राणियों की हिंसा नहीं करता है वह गृहस्थ भी इस प्रकार का व्रत अच्छी तरह पालता हुआ स्वर्ग को जाता है । भविष्य में उसके लिए मोक्ष भी निकट ही है ।

॥ श्रीसुधर्मोवाच ॥

मूलः-अभविंसु पुरा वि भिक्खुवो,
आएसा वि भवंति सुव्वता ।
एयाइं गुणाइं आहु ते,
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥१०॥

छायाः-अभवन् पुराऽपि भिक्षवः,
आगमिष्या अपि सुव्रताः ।
एतान् गुणानाहुस्ते,
काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥१०॥

अन्वयार्थः--हे (भिक्खुवो) भिक्षुको ! (पुरा) पहले (अभविंसु) हुए जो (वि) और (आएसा वि) भविष्यत् में होंगे, वे सब (सुव्वता) सुव्रती होने से जिन (भवंति) होते हैं। (ते) वे सब जिन (एयाइं) इन (गुणाइं) गुणों को एकसे (आहु) कहते हैं। क्योंकि, (कासवस्स) महावीर भगवान के (अणुधम्मचारिणो) वे धर्मानुचारी हैं।

भावार्थः-हे भिक्षुको ! जो बीते हुए काल में तीर्थंकर हुए हैं, उनके और भविष्यत् में होंगे उन सभी तीर्थंकरों के कथनों में अन्तर नहीं होता है। सभी का मन्तव्य एक ही सा है। क्योंकि वे सुव्रती होने से राग द्वेष रहित जो जिन-पद है, उसको प्राप्त कर लेते हैं और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। इसी से ऋषभदेव और भगवान् महावीर आदि सभी "ज्ञान दर्शन चारित्र से मुक्ति होती है," ऐसा एक ही सा कथन करते हैं।

॥ श्रीऋषभोवाच ॥

मूलः-तिविहेण वि पाण मा हणे,
आयहिते अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो,
संपइ जे अणागयावरे ॥ ११ ॥

छायाः-त्रिविधेनापि प्राणान् मा हन्यात्,
आत्महितोऽनिदानः संवृतः ।

एवं सिद्धा अनन्तशः,
संप्रति ये अनागत अपरे ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (जे) जो (आयहिते) आत्म हित के लिए (तिविहेण वि) मन, वचन, कर्म से (पाण) प्राणों को (मा हणे) नहीं हनते (अणियाण) निदान रहित (संवुडे) इन्द्रियों को गोपे (एवं) इस प्रकार का जीवन करने से (अणंतसो) अनंत (सिद्धा) मोक्ष गये हैं और (सम्पइ) वर्तमान में जा रहे हैं (अणागयावरे) और अनागत अर्थात् भविष्यत् में जावेंगे ।

भावार्थः--हे पुत्रो ! जो आत्म हित के लिए एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत प्राणी मात्र की मन, वचन, और कर्म से हिंसा नहीं करते हैं. और अपनी इन्द्रियों को विषय वासना की ओर घूमने नहीं देते हैं, बस,इसी व्रत के पालन करते रहने से भूत काल में अनंत जीव मोक्ष पहुँचे है । और वर्तमान में जा रहे हैं । इसी तरह भविष्यत् काल में भी जावेंगे ।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं,
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो ।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए,
सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥ १२ ॥

छाया:-संबुध्यध्वम् जन्तव ! मानुषत्वं,
दृष्ट्वा भयं बालिशेनालंभः ।
एकान्ते दुःखाज्ज्वरित इव लोकः,
स्वकर्मणा विपर्यासमुपैति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-(जंतवो) हे मनुजो ! तुम (माणुसत्तं) मनुष्यता को (संबुज्झहा) अच्छी तरह जानो । (भयं) नरकादि भय को (दट्ठुं) देख कर (बालिसेणं) मूर्खता के कारण विवेक को (अलंभो) जो प्राप्त नहीं करता वह (सकम्मुणा) अपने किये हुए कर्मों के द्वारा (जरिए व) ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की भाँति (एगंत दुक्खे) एकान्त दुख युक्त (लोए) लोक में (विप्परियासुवेइ) पुनः पुनः जन्म मरण को प्राप्त होता है ।

भावार्थः-हे मनुजो ! दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त कर के फिर भी जो सम्यक्-ज्ञान आदि को प्राप्त नहीं करते हैं, और नरकादि के नाना प्रकार के दुख रूप भयों के होते हुए भी मूर्खता के कारण विवेक को प्राप्त नहीं करते हैं, वे अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की तरह एकान्त दुखकारी जो यह लोक है, इस में पुनः पुनः जन्म मरण को प्राप्त करते हैं ।

मूलः-जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१३॥

छायाः-यथा कूर्मः स्वाङ्गानि स्वदेहे समाहरेत् ।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे आर्य ! (जहा) जैसे (कुम्मे) कछुआ (सअंगाइं) अपने अङ्गोपाङ्गों को (सए) अपने (देहे) शरीर में (समाहरे) सिकोड़ लेता है (एवं) इसी तरह (मेधावी) पण्डित जन (पावाइं) पापों को (अज्झप्पेण) अध्यात्म ज्ञान से (समाहरे) संहार कर लेते हैं।

भावार्थः-हे आर्य ! जैसे कछुआ अपना अहित होता हुआ देख कर अपने अङ्गोपाङ्गों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, इसी तरह पण्डित जन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को अध्यात्मिक ज्ञान से संकुचित कर रखते है।

मूलः-साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेन्द्रियाणि य।
पावकं च परीणामं भासा,दोसं च तारिसं ॥१४॥

छायाः-संहरेत् हस्तपादौ वा, मनः पञ्चेन्द्रियाणि च।
पापकं च परिणामं भाषादोषं च तादृशम् ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे आर्य ! (तारिसं) कछुवे की तरह ज्ञानी जन (हत्थपाए य) हाथ और पांवों की व्यर्थ चलन क्रिया को (मणं) मन की चपलता को (य) और (पंचेन्द्रियाणि) विषय की ओर घूमती हुई पाँचों ही इन्द्रियों

को (च) और (पावकं) पाप के हेतु (परीणामं) आने-वाले अभिप्राय को (च) और (भासादोसं) सावद्य भाषा बोलने को (साहरे) रोक रखते हैं।

भावार्थः—हे आर्य ! जो ज्ञानी जन हैं, वे कछुए की तरह अपने हाथ पावों को संकुचित रखते हैं । अर्थात् उनके द्वारा पाप कर्म नहीं करते हैं। और पापों की ओर घूमते हुए इस मन के वेग को रोकते हैं ! विषयों की ओर इन्द्रियों को झाँकने तक नहीं देते हैं। और बुरे भावों को हृदय में नहीं आने देते। और जिस भाषा से दूसरों का बुरा होता हो, ऐसी भाषा भी कभी नहीं बोलते ह।

मूलः—एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥१५॥

छायाः—एतत् खलु ज्ञानिनः सारं,
यन्न हिंस्यति कञ्चनम् ।
अहिंसा समयं चैव,
एतावती विज्ञानिता ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—हे आर्य ! (खु) निश्चय करके (णाणिणो) ज्ञानियों का (एयं) यह (सारं) तत्व है, कि (जं) जो (कंचणं) किसी भी जीव की (न) नहीं (हिंसति) हिंसा करते (अहिंसा) अहिंसा (चेव) ही (समयं) शास्त्रीय तत्व है (एतावंतं) बस, इतना ही (वियाणिया) विज्ञान है। वह यथेष्ट ज्ञानीजन है।

भावार्थः-हे आर्य! ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन ज्ञानियों का सारभूत तत्त्व यही है, कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते। वे अहिंसा ही को शास्त्रीय प्रधान विषय समझते हैं। वास्तव में इतना जिसे सम्यक् ज्ञान है वही यथेष्ट ज्ञानी जन है। बहुत अधिक ज्ञान सम्पादन करके भी यदि हिंसा को न छोड़े, तो उनका विशेष ज्ञान भी अज्ञान रूप है।

मूलः-संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥१६॥

छायाः-संबुद्ध्यमानस्तु नरो मतिमान्,
पापादात्मानं निवर्त्तयेत्।
हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे आर्य! (संबुज्झमाणे) तत्त्वों को जानने वाला (मतीमं) बुद्धिमान् (णरे) मनुष्य (हिंसप्पसूयाइं) हिंसा से उत्पन्न होने वाले (दुहाइं) दुखों को (वेराणुबंधीणि) कर्मबंधहेतु (महब्भयाणि) महाभयकारी (मत्ता) मान कर (पावाउ) पापसे (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (निवट्ट-एज्जा) निवृत करते रहते हैं।

भावार्थः--हे आर्य! बुद्धिमान् मनुष्य वही है,जो सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, हिंसा से उत्पन्न होने वाले दुखों को कर्म बंध का हेतु और महाभयकारी मान कर, पापों से अपनी आत्मा को दूर रखता है।

मूलः-आयगुत्ते सया दंते,
छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति,
पडिपुन्नमणेलिसं ॥ १७ ॥

छायाः-आत्मगुप्तः सदा दान्तः,
छिन्न शोकोऽनाश्रवः ।
यो धर्मं शुद्धमाख्याति,
प्रतिपूर्णमनीदृशम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (जे) जो (आयगुत्ते) आत्मा को गोपता हो,(सया) हमेशा (दंते) इन्द्रियों का दमन करता हो (छिन्नसोए) संसार के स्रोतों को मूंदने वाला या इष्ट वियोग आदि के शोक से रहित और (अणा-सवे) नूतन कर्म बंधन रहित जो पुरुष हो, वह (पडिपुन्नं) परिपूर्ण (अणेलिसं) अनन्य (सुद्धं) शुद्ध (धम्मं) धर्म को (अक्खाति) कहता है।

भावार्थः--हे गौतम ! जो अपनी आत्मा का दमन

करता है। इन्द्रियों के विषयों के साथ जो विजय को प्राप्त करता है, संसार में परिभ्रमण करने के हेतुओं को नष्ट कर डालता है, और नवीन कर्मों का बंध नहीं करता है, अथवा इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदि होने पर भी जो शोक नहीं करता-समभावी बना रहता है, वही ज्ञानी जन हितकारी धर्म मूलक तत्त्वों को कहता है।

मूलः-न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता,
संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥ १८ ॥

छायाः-न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बालाः,
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः।
मेधाविनो लोभमदव्यतीताः,
सन्तोषिणो नोपकुर्वन्ति पापम् ॥१८॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति! (बाला) जो अज्ञानी जन हैं वे (कम्मुणा) हिंसादि कामों से (कम्म) कर्म को (न) नहीं (खवेंति) नष्ट करते हैं, किन्तु (धीरे) बुद्धिमान् मनुष्य (अकम्मुणा) अहिंसादिकों से (कम्म) कर्म (खवेंति) नष्ट करते हैं, (मेधाविणो) बुद्धिमान् (लोभमया) लोभ तथा मद से (वतीता) रहित (संतोसिणो) संतोषी होते हैं, वे (पावं) पाप (नो पकरेंति) नहीं करते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! हिंसादि के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को हिंसादि ही से जो अज्ञानी जीव नष्ट करना चाहते हैं, यह उनकी भूल है । प्रत्युत कर्मनाश के बदले उनके गाढ़ कर्मों का बंध होता है । क्योंकि खून से भींगा हुआ कपड़ा खून ही के द्वारा कभी साफ़ नहीं होता है। बुद्धिमान् तो वही हैं, जो हिंसादि के द्वारा बँधे हुए कर्मों को अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य आदि के द्वारा नष्ट करते हैं । और वे लोभ और मद से रहित हो कर संतोषी हो जाते हैं । वे फिर भविष्यत् में नवीन पाप कर्म नहीं करते हैं । यहां 'लोभ' शब्द राग का सूचक और 'मद' द्वेष का सूचक है । अतएव लोभ-मया शब्द का अर्थ राग द्वेष समझना चाहिए ।

मूलः-डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं,
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१९॥

छाया:-डिम्भश्च प्राणो वृद्धश्च प्राणः ।
स आत्मवत् पश्यति सर्वलोकान् ।
उत्प्रेक्षते लोकमिमं महान्तम्,
बुद्धोऽप्रमत्तेषु परिव्रजेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (डहरे) छोटे (पाणे) प्राणी (य) और (वुड्ढे) बड़े (पाणे) प्राणी (ते)

उन सभी को (सव्वलोए) सर्व लोक में (आत्तउ) आत्मवत् (पासइ) जो देखता है (इणं) इस (लोगं) लोक को (महंतं) बड़ा (उव्वेहती) देखता है (बुद्धे)वह तत्वज्ञ (अपमत्तेसु) आलस्य रहित संयम में (परिव्वएज्जा) गमन करता है।

भावार्थः--हे गौतम ! चींटियाँ, मकोड़े, कुंथुवे, आदि छोटे छोटे प्राणी और गाय, भैंस, हाथी, बकरा आदि बड़े बड़े प्राणी आदि सभी को अपने आत्मा के समान जो समझता है। और महान् लोक को चराचर जीव के जन्म मरण से अशाश्वत देख कर जो बुद्धिमान् मनुष्य संयम में रत रहता है। वही मोक्ष में पहुँचने का अधिकारी है।

॥इति चतुर्दशोऽध्यायः॥



॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

(अध्याय पंद्रहवां)

मनो निग्रह

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-एगे जिए जिया पंच,
पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं,
सव्वसत्तू जिणामहं ॥ १ ॥

छायाः-एकस्मिन् जिते जिताः पञ्च,
पंचसु जितेषु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा,
सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थः--हे मुनि ! (एगे) एक मन को (जिए) जीतने पर (पंच) पाँचो इन्द्रियां (जिया) जीत ली जाती हैं और (पंच) पाँच इन्द्रियां (जिए) जीतने पर (दस)

एक मन पाँच इन्द्रियां और चार कषाय, यों दसों (जिया) जीत लिये जाते हैं। (दसहा उ) दशों को (जिणित्ता) जीत कर (णं) वाक्यालङ्कार (सव्वसत्तू) सभी शत्रुओं को (महं) मैं (जिणा) जीत लेता हूँ।

भावार्थः-हे मुने ! एक मन को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली जाती है। और पाँचों इन्द्रियों को जीत लेने पर एक मन पाँच इन्द्रियाँ और क्रोध, मान, मया, लोभ ये दशो ही जीत लिये जाते हैं। और, इन देशों को जीत लेने से सभी शत्रुओं को जीता जा सकता है। इसीलिए सब मुनि और गृहस्थों के लिए एक बार मन को जीत लेना श्रेयस्कर है।

मूलः-मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥२॥

छायाः-मनः साहसिको भीमः
दुष्टाश्वः परिधावति ।
तं सम्यक् तु निगृह्णामि,
धर्मशिक्षायै कन्थकम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थः-हे मुनि (मणो) मन बड़ा (साहसिओ) साहसिक और (भीमो) भयंकर (दुट्ठस्स) दुष्ट घोड़े की तरह इधर उधर (परिधावई) दौड़ता है (तं) उसको (धम्म-सिक्खाइ) धर्म रूप शिक्षा से (कंथगं) जातिवंत अश्व की

तरह (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (निगिण्हामि) गृहण करता हूँ

भावार्थः-हे मुनि ! यह मन अनर्थों के करने में बड़ा साहसिक और भयंकर है। जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा इधर उधर दौड़ता है, उसी तरह यह मन भी ज्ञान रूप लगाम के बिना इधर उधर चक्कर मारता फिरता है। ऐसे इस मन को धर्म रूप शिक्षा से जातिवंत घोड़े की तरह मैंने निग्रह कर रक्खा है। इसी तरह सब मुनियों को चाहिए, कि वे ज्ञान रूप लगाम से इस मन को निग्रह करते रहें।

मूलः-सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोस तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउव्विहा ॥२॥

छायाः-सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्यसत्यामृषा तु, मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (मणगुत्ती) मन गुप्ति (चउव्विहा) चार प्रकार की है। (सच्चा) सत्य (तहेव) तथा (मोसा) मृषा (य) और (सच्चामोसा) सत्य-मृषा (य) और (तहेव) वैसे ही (चउत्थी) चौथी (असच्चमोसा) असत्यमृषा है।

भावार्थः-हे गौतम ! मन चारों ओर घूमता रहता है। (१) सत्य विषय में; (२) असत्य विषय में; (३) कुछ सत्य और कुछ असत्य विषय में; (४) सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसे असत्यमृषा विषय में प्रवृत्ति करता है। जब यह मन

असत्य कुछ सत्य और कुछ असत्य, इन दो विभागों में प्रवृति करता है तो महान् अनर्थों को उपार्जन करता है। उन अनर्थों के भार से आत्मा अधोगति में जाती है। अतएव असत्य और मिश्र की ओर छूते हुए इस मन को निग्रह कर के रखना चाहिए।

मूलः--संरंभसमारंभे, आरंभम्मिय तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, निअत्तिज्ज जयं जई॥४॥

छायाः--संरंभे समारंभे, आरंभे च तथैव च।
मनः प्रवर्त्तमानं तु, निवर्तयेद्यतं यतिः॥४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जयं) यत्नवान् (जई) यति (संरंभसमारंभे) किसी को मारने के सम्बन्ध में और पीड़ा देने के सम्बन्ध में (य) और (तहेव) वैसे ही (आरंभ म्मि) हिंसक परिणाम के विषय में (पवत्तमाणं तु) प्रवृत्त होते हुए (मणं) मन को (निअत्तिंज्ज) निवृत्त करना चाहिए।

---

(१) नियतिज्ज-ऐसा भी कहीं कहीं आता है, ये दोनों शुद्ध है क्योंकि क, ग, च, द, आदि वर्णों का लोप करने से "अ" अवशेष रह जाता है। उस जगह 'अवर्णो य श्रुतिः" इस सूत्र से "अ' की जगह "य" का आदेश होता है ऐसा अन्यत्र भी समझ लें।

भावार्थः-हे गौतम ! यत्नवान् साधु हो, या गृहस्थ हो, चाहे जो हो, किन्तु मन के द्वारा कभी भी ऐसा विचार तक न करे, कि अमुक को मार डालूँ या उसे किसी तरह पीड़ित कर दूँ । तथा उसका सर्वस्व नष्ट कर डालूँ । क्योंकि मन के द्वारा ऐसा विचार मात्र कर लेने से वह आत्मा महा पातकी बन जाता है । अतएव हिंसक अशुभ परिणामों की ओर जाते हुए इस मन को पीछा घुमाओ, और निग्रह कर के रक्खो । इसी तरह कर्म बन्धने की ओर घूमते हुए, वचन और काया को भी निग्रह करके रक्खो ।

मूलः-वत्थगंधमलंकारं,
इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति,
न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ ५ ॥

छायाः-वस्त्रगन्धमलङ्कारं,
स्त्रियः शयनानि च ।
अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति,
न ते त्यागिन इत्युच्यते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (वत्थगंधमलंकारं) वस्त्र, सुगंध, भूषण (इत्थीओ) स्त्रियाँ (य) और (सयणाणि) शय्या वगैरह को (अच्छंदा) पराधीन होने से (जे) जो (न) नहीं (भुंजंति) भोगते हैं (से) वे (चाइ) त्यागी (न) नहीं (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है ।

भावार्थः--हे आर्य ! सम्पूर्ण परित्याग अवस्था में, या गृहस्थ की सामायिक अथवा पौषध अवस्था में, अथवा त्याग होने पर कई प्रकार के बढ़िया वस्त्र,सुगंध, इत्र, आदि भूषण वगैरह एवं स्त्रियों और शय्या आदि के सेवन करने की जो मन द्वारा केवल इच्छा मात्र ही करता है, परन्तु उन वस्तुओं को पराधीन होने से भोग नहीं सकता है, उसे त्यागी नहीं कहते हैं, क्योंकि उसकी इच्छा नहीं मिटी, वह मानसिक त्यागी नहीं बना है।

मूलः--जे य कंते पिए भोए,
लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयई भोए,
से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ ६ ॥

छायाः-यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान् ,
लब्धानपि वि पृष्ठीकुरुते ।
स्वाधीनान्त्यजति भोगान् ,
स हि त्यागीत्युच्यते ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (कंते) सुन्दर (पिए) मन मोहक (लद्धे) पाये हुए (भोए) भोगों को (वि) भी (जे) जो (पिट्ठिकुव्वइ) पीठ दे देवें, यही नहीं, जो (भोए) भोग (साहीणे) स्वाधीन हैं उन्हें (चयई) छोड़ देता है। (हु) निश्चय (से) वह (चाइ) त्यागी है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जो गृहस्थाश्रम में रह रहा है, उसको सुन्दर और प्रिय भोग प्राप्त होने पर भी उन भोगों से उदासीन रहता है, अर्थात् अलिप्त रहता हुआ उन भोगों को पीठ दे देता है, यही नहीं, स्वाधीन होते हुए भी उन भोगों का परित्याग करता है। वही निश्चय रूप से सच्चा त्यागी है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

मूलः- समाए पेहाए परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
"न सा महं नो वि अहं पि तीसे,"
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥७॥

छायाः-समया प्रेक्षया परिव्रजतः,
स्यान्मनो निःसरति बहिः ।
न सा मम नोऽप्यहं तस्याः,
इत्येव तस्या विनयेत रागम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (समाए) समभाव से (पेहाए) देखता हुआ जो (परिव्वयंतो) सदाचार सेवन में रमण करता है। उस समय (सिया) कदाचित् (मणो) मन उसका (बहिद्धा) संयम जीवन से बाहर (निस्सरई) निकल जाय तो विचार करे, कि (सा) वह (महं) मेरी (न) नहीं है। और (अहं पि) मैं भी (तीसे) उस का (नो वि) नहीं ही हूँ। (इच्चेव) इस प्रकार विचार कर

(ताओ) उस से (रागं) स्नेह भाव को (विणएज्ज) दूर करना चाहिए।

भावार्थः-हे आर्य! सभी जीवों पर समदृष्टि रख कर आत्मिक ज्ञानादि गुणों में रमण करते हुए भी प्रमाद वश यह मन कभी कभी संयमी जीवन से बाहर निकल जाता है; क्योंकि हे गौतम! यह मन बड़ा चंचल है वायु की गति से भी अधिक तीव्र गतिमान् है, अतः जब संसार के मन मोहक पदार्थों की ओर यह मन चला जाय, उस समय यों विचार करना चाहिए, कि मन की यह धृष्टता है, जो सांसारिक प्रपंच की ओर घूमता है। स्त्री, पुत्र, धन वगैरह सम्पत्ति मेरी नहीं है। और मैं भी उन का नहीं हूँ। ऐसा विचार कर उस सम्पत्ति से स्नेह भाव को दूर करना चाहिए। जो इस प्रकार मन को निग्रह करता है, वही उत्तम मनुष्य है।

मूलः-पाणिवहमुसावायाअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो होइ अणासवो ॥८॥

छायाः-प्राणि वधमृषावाद—,
अदत्तमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरतः।
रात्रिभोजनविरतः,
जीवो भवति अनाश्रवः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जीवो) जो जीव (पाणिवहमुसावाया) प्राणवध, मृषावाद (अदत्तमेहुणपरिग्गहा)

चोरी, मैथुन और ममत्व से (विरओ) विरक्त रहता है। और (राइभोयण विरओ) रात्रि भोजन से भी विरक्त रहता है, वह (अणासवो) अनाश्रवी (होइ) होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! आत्मा ने चाहे जिस जाति व कुल में जन्म लिया हो, अगर वह हिंसा, झूँठ, चोरी, व्यभिचार, ममत्व और रात्रि भोजन से पृथक् रहती हो तो वही आत्मा अनाश्रव× होती है। अर्थात् उस के भावी नवीन पाप रुक जाते हैं। और जो पूर्व भवों के संचित कर्म हैं, वे यहाँ भोग करके नष्ट कर दिये जाते हैं।

मूलः—जहा महातलागस्स,
सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए,
कमेणं सोसणा भवे ॥ ६ ॥

छायाः-यथा महातडागस्य,
सन्निरुद्धे जलागमे।
उत्सिचनेन तपनेन,
क्रमेण शोषणा भवेत् ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (महातलागस्स) बड़े भारी एक तालाव के (जलागमे) जल के

× Free from the influx of karma

आने के मार्ग को (सन्निरुद्धे) रोक देने पर, फिर उस में का रहा हुआ पानी (उस्सिंचणाए) उलीचने से तथा (तवणाए) सूर्य के आतप से (कमेणं) क्रमशः (सोसणा) उस का शोषण (भवे) होता है।

भावार्थः--हे आर्य ! जिस प्रकार एक बड़े भारी तालाब क जल आने के मार्ग को रोक देने पर नवीन जल उस तालाव में नहीं आ सकता है । फिर उस तालाब में रहे हुए जल को किसी प्रकार उलीच कर बाहर निकाल देने से अथवा सूर्य के आतप से क्रमशः वह सरोवर सूख जाता है। अर्थात् फिर उस तालाब में पानी नहीं रह सकता है।

मूलः-एवं तु संजयस्सावि,
पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसंचियं कम्मं,
तवसा निज्जरिज्जइ ॥ १० ॥

छायाः-एवं तु संयतस्यापि,
पापकर्मनिराश्रवे ।
भवकोटिसञ्चितं कर्म,
तपसा निर्जीर्यते ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (पावकम्मनिरासवे) जिसके नवीन पाप कर्मों का आना रुक

गया है, ऐसे (संजयस्सावि) संयमी जीवन बिताने वाले के (भवकोडिसंचियं) करोड़ों भवों के पूर्वोपार्जित (कम्मं) कर्म (तवसा) तप द्वारा (निज्जरिज्जइ) क्षय हो जाते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे तालाव में नवीन आते हुए पानी को रोक कर पहले के पानी को उलीचने से तथा आतप से उसका शोषण हो जाता है । इसी तरह संयमी जीवन बिताने वाला यह जीव भी हिंसा, झूँठ, चोरी, व्यभिचार, और ममत्व द्वारा आते हुए पाप को रोक कर, जो करोड़ों भवों में पहले संचित किये हुए कर्म हैं उन को तपस्या द्वारा क्षय कर लेता है । तात्पर्य यह है कि आगामी कर्मों का संवर और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही कर्म क्षय-मोक्ष-का कारण है ।

मूलः-सो तवो दुविहो वुत्तो,
बाहिरब्भितरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो,
एवमब्भितरो तवो ॥ ११ ॥

छायाः-तत्तपो द्विविधमुक्तं,
बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
बाह्यं षड्विधमुक्तं,
एवमाभ्यन्तरं तपः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सो) वह (तवो) तप

(दुविहो) दो प्रकार का (वुत्तो) कहा गया है । (बाहिर· ब्भिंतरो तहा) बाह्य तथा आभ्यन्तर (बाहिरो) बाह्य तप (छव्विहो) छः प्रकार का (वुत्तो) कहा है । (एवं) इसी प्रकार (अब्भिंतरो) आभ्यन्तर (तवो) तप भी है ।

भावार्थः-हे आर्य ! जिस तप से, पूर्व संचित कर्म नष्ट किये जाते हैं, वह तप दो प्रकार का है । एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर । बाह्य के छः प्रकार हैं । इसी तरह आभ्यन्तर के भी छः प्रकार हैं ।

मूलः-अणसणमूणोयरिया,
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया,
य बज्झो तवो होइ ॥१२॥

छायाः-अनशनमूनोदरिका,
भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च,
बाह्यं तपो भवति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! बाह्य तप के छः भेद यों हैं:-(अणसणमूणोयरिया) अनशन, ऊनोदरिका (य) और (भिक्खायरिया) भिक्षाचर्या (रसपरिच्चाओ) रस· परित्याग (कायकिलेसो) काय क्लेश (य) और (संली·

णया) नो-इन्द्रियों को वश में करना । यह छः प्रकार का (बज्झो) बाह्य (तवो) तप (होइ) है ।

भावार्थः-हे गौतम ! एक दिन, दो दिन यों छः छः महीने तक भोजन का परित्याग करना, या सर्वथा प्रकार से भोजन का परित्याग कर के संथारा कर ले उसे अनशन* तप कहते हैं । भूख सहन कर कुछ कम खाना, उसको ऊनोदरी तप कहते हैं । अनैमित्तिक भोजी हो कर नियमानुकूल माँग करके भोजन खाना वह भिक्षाचर्या नाम का तप है । घी, दूध, दही, तेल और मिष्टान्न आदि का परित्याग करना, वह रस परित्याग तप है । शीत व ताप आदि को सहन करना काय क्लेश नाम का तप है । और पाँचों इन्द्रियों को वश में करना एवं क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय प्राप्त करना, मन वचन काया के अशुभ योगों को रोकना यह छठा संलीनता तप है । इस तरह बाह्य तप के द्वारा आत्मा अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय कर सकती है ।

मूलः-पायच्छित्तं विणओ,
　　　वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
　झाणं च विउस्सग्गो,
　　　एसो अंभिंतरो तवो ॥ १२ ॥

---

* [Giving up food and water for some time or permanently]

छाया:--प्रायश्चित्तं विनयः,
वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानं च व्युत्सर्गः,
एतदाभ्यन्तरं तपः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! आभ्यन्तर तप के छः भेद यों हैं। (पायच्छित्तं) प्रायश्चित (विणओ) विनय (वेयावच्चं) वैयावृत्य (तहेव) वैसे ही (सज्झाओ) स्वाध्याय (झाणं) ध्यान (च) और (विउस्सग्गो) व्युत्सर्ग (एसो) यह (अब्भिंतरो) आभ्यन्तर (तवो) तप है।

भावार्थः--हे आर्य ! यदि भूल से कोई गलती हो गयी हो तो उसकी आलोचक के पास आलोचना करके शिक्षा ग्रहण करना, इस को प्रायश्चित्त तप कहते हैं। विनम्र भावों मय अपना रहन सहन बना लेना, यह विनय तप कहलाता है। सेवा धर्म के महत्त्व को समझकर सेवा धर्म का सेवन करना वैयावृत्य नामक तप है,इसी तरह शास्त्रों का मनन पूर्वक पठन पाठन करना स्वाध्याय तप है। शास्त्रों में बताये हुवे तत्वों का बारीक दृष्टि से मनन पूर्वक चिन्तवन करना ध्यान तप कहलाता है, और शरीर से सर्वथा ममत्व को परित्याग कर देना यह छठा व्युत्सर्ग तप है। यों ये छः प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं। इन बारह प्रकार के तप में से, जितने भी बन सकें, उतने प्रकार के तप करके पूर्व संचित करोड़ों जन्मों के कर्मों को यह जीव सहज ही में नष्ट कर सकता है।

मूलः-रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोअलोले समुवेइ मच्चुं ॥१४॥

छायाः-रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः स यथा वा पतङ्गः,
आलोकलोलः समुपैति मृत्युम् ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जो) जो प्राणी (रूवेसु) रूप देखने में (गिद्धिं) गृद्धि को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है (जह वा) जैसे (आलोअलोले) देखने में लोलुप (से) वह (पयंगे) पतंग (रागाउरे) रागातुर (मच्चुं) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे देखने का लोलुपी पतंग जलते हुए दीपक की लौ पर गिर कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है । वैसे ही जो आत्मा इन चक्षुओं के वशवर्ती हो विषय सेवन में अत्यन्त लोलुप हो जाती है, वह शीघ्र ही असमय में अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है ।

मूलः—सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥ १५ ॥

छायाः-शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो हरिणमृग इव मुग्धः,
शब्देऽतृप्तः समुपैति मृत्युम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (व्व) जैसे (रागाउरे) रागातुर (मुद्धे) मुग्ध (सद्दे) शब्द के विषय से (अतित्ते) अतृप्त (हरिणमिए) हरिण (मच्चुं) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है, वैसे ही (जो) जो आत्मा (सद्देसु) शब्द विषयक (गिद्धिं) गृद्धि को (मुवेइ) प्राप्त होती है (से) वह (अकालिअं) असमय में (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाती है ।

भावार्थः—हे आर्य ! राग भाव में लवलीन, हित अहित का अनभिज्ञ, श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में अतृप्त ऐसा जो हिरण है वह, केवल श्रोत्रेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अपना प्राण खो बैठता है । उसी तरह जो आत्मा श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में लोलुप होती है, वह शीघ्र ही असमय में मृत्यु को प्राप्त हो जाती है ।

मूलः-गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥१६॥

छायाः-गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुर औषधगंधगृद्धः,
सर्पो विलाद्विव निःक्रामन् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (ओसहिगंध गिद्धे) नाग दमनी औषध की गंध में मग्न (रागाउरे) रागातुर (सप्पे) सर्प (विलाओ) बिल से बाहर (निक्खमंते) निकलने पर नष्ट हो जाता है (विव) ऐसे ही (जो) जो जीव (गंधेसु) गंध में (गिद्धिं) गृद्धिपने को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय ही में (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे नागदमनी गंध का लोलुप ऐसा जो रागातुर सर्प है, वह अपने बिल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त होता है । वैसे ही जो जीव गंध विषयक पदार्थों में लीन हो जाता है, वह शीघ्र ही असमय में अपनी आयु का अन्त कर बैठता है ।

मूलः-रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥१७॥

छायाः-रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो बडिशविभिन्नकायः,
मत्स्यो यथाऽऽमिषभोगगृद्धः ॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आमिसभोगगिद्धे) माँस भक्षण के स्वाद में लोलुप ऐसा (रागाउरे) रागातुर (मच्छे) मच्छ (बडिसविभिन्नकाए) माँस या आटा लगा हुआ ऐसा जो तीक्ष्ण काँटा उस से विंधकर नष्ट हो जाता है । ऐसे ही (जो) जो जीव (रसेसु) रस में (गिद्धिं) गृद्धिपन को (उवेइ) प्राप्त होता है, (से) वह (अकालिअं) असमय में ही (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार मांस भक्षण के स्वाद में लोलुप जो रागातुर मच्छ है वह मरणावस्था को प्राप्त होता है । ऐसे ही जो आत्मा इस रसेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अत्यन्त गृद्धिपन को प्राप्त होती है वह असमय ही में द्रव्य और भाव प्राणों से रहित हो जाता है ।

मूलः-फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥१८॥

छाया;-स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः शीतजलावसन्नः
ग्राहा गृहीतो महिष इवारण्ये ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (व) जैसे (रण्णे) अरण्य में (सीयजलावसन्ने) शीतजल में बैठे रहने का प्रलोभी ऐसा जो (रागाउरे) रागातुर (महिसे) भैंसा (गाहग्गहीए) मगर के द्वारा पकड़ लेने पर मारा जाता है, ऐसे ही (जो) मनुष्य (फासस्स) त्वचा विषयक विषय के (गिद्धिं) गृद्धि पन को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय ही में (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है ।

भावार्थः-जैसे बड़ी भारी नदी में त्वचेन्द्रिय के वश-वर्ती हो कर और शीतल जल में पैठकर आनंद मानने वाला वह रागातुर भैंसा मगर से जब घेरा जाता है, तो सदा के लिए अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। ऐसे ही जो मनुष्य

अपनी त्वचेन्द्रिय जन्य विषय में लोलुप होता है,वह शीघ्र ही असमय में नाश को प्राप्त हो जाता है।

हे गौतम ! जब इस प्रकार एक एक इन्द्रिय के वशवर्ती हो कर भी ये प्राणी अपना प्राणान्त कर बैठते हैं, तो भला उन की क्या गति होगी जो पांचों इन्द्रियों को पाकर उनके विषय में लोलुप हो रहे हैं ? अतः पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य और श्रेष्ठ धर्म है।

॥ इति पंचदशोऽध्यायः ॥



॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

(अध्याय सोलहवां)

आवश्यक कृत्य

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-समरेसु अगारेसु,
संधीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं,
णेव चिट्ठे ण संलवे ॥ १ ॥

छायाः--समरेषु अगारेषु,
सन्धिषु च महापथे ।
एक एकस्त्रिया सार्धं,
नैव तिष्ठेन्न संलपेत् ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (समरेसु) लुहार की शाला में (अगारेसु) घरों में (संधीसु) दो मकानों की

बीच की संधि में (य) और (महापहे) मोटे पंथ में (एगो) अकेला (एगित्थिए) अकेली स्त्री के (सद्धिं) साथ (णेव) न तो (चिट्ठे) खड़ा ही रहे और (ण) न (संलवे) वार्तालाप करे ।

भावार्थः-हे गौतम ! लुहार की शून्य शाला में, या पड़े हुए खण्डहरों में, तथा दो मकानों के बीच में और जहां अनेकों मार्ग आकर मिलते हों वहां अकेला पुरुष अकेली औरत के साथ न कभी खड़ा ही रहे और न कभी कोई उससे वार्तालाप ही करे । ये सब स्थान उपलक्षण मात्र हैं तात्पर्य यह है कि कहीं भी पुरुष अकेली स्त्री से वार्त्तालाप न करे ।

मूलः-साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥२॥

छायाः-श्वानं सूतिकां गां, दृप्तं गोणं हयं गजम् ।
सडिम्भं कलहं युद्धं,दूरतः परिवर्जयेत् ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (साणं) श्वान (सूइअं) प्रसूता (गाविं) गो (दित्तं) मतवाला (गोणं) बैल (हयं) घोड़ा (गयं) हाथी,इन को और (संडिब्भं) बालकों के क्रीड़ास्थल (कलहं) वाक्युद्ध की जगह (जुद्धं) शस्त्र युद्ध की जगह आदि को (दूरओ) दूर ही से (परिवज्जए) छोड़ देना चाहिए ।

भावार्थः--हे आर्य ! जहाँ श्वान,प्रसूता गाय, मतवाला बैल,हाथी,घोड़े खड़े हों या परस्पर लड़ रहे हों वहाँ ज्ञानी जन को नहीं जाना चाहिए। इसी तरह जहाँ बालक खेल रहे हों या मनुष्यों में परस्पर वाक् युद्ध हो रहा हो, अथवा शस्त्र-युद्ध हो रहा हो, ऐसी जगह पर जाना बुद्धिमानों के लिए दूर से ही त्याज्य है।

मूलः एगया अचेलए होइ,
सचेले आवि एगया।
एअं धम्महियं णच्चा,
णाणी णो परिदेवए ॥ ३ ॥

छायाः-एकदाऽचेलको भवति,
सचेलको वाप्येकदा।
एतं धर्मं हितं ज्ञात्वा,
ज्ञानी नो परिदेवेत ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (एगया) कभी (अचेलए) वस्त्र रहित (होइ) हो (एगया) कभी (सचेलेआवि) वस्त्र सहित हो, उस समय समभाव रखना (एअं) यह (धम्महियं) धर्म हितकारी (णच्चा) जान कर (णाणी) ज्ञानी (णो) नहीं (परिदेवए) खेदित होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! कभी ओढ़ने को वस्त्र हो या न

हो, उस अवस्था में समभाव से रहना, बस इसी धर्म को हितकारी जान कर योग्य वस्त्रों के होने पर अथवा वस्त्रों के बिलकुल अभाव में या फटे टूटे वस्त्रों के सद्भाव में ज्ञानी जन कभी खेद नहीं पाते ।

मूलः—अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं,
न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं,
तम्हा भिक्खू न संजले ॥ ४ ॥

छायाः—आक्रोशेत् परः भिक्षुं,
न तस्मै प्रतिसंज्वलेत् ।
सदृशो भवति बालानां,
तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (परे) कोई दूसरा (भिक्खुं) भिक्षु का (अक्कोसेज्जा) तिरस्कार करे (तेसिं) उस पर वह (न) न (पडिसंजले) क्रोध करे, क्योंकि क्रोध करने से (बालाणं) मूर्ख के (सरिसो) सदृश (होइ) होता है (तम्हा) इसलिए (भिक्खू) भिक्षु (न) न (संजले) क्रोध करे ।

भावार्थः—हे आर्य ! भिक्षु या साधु या ज्ञानी वही है, जो दूसरों के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उन पर बदले में

क्रोध नहीं करता । क्योंकि क्रोध करने से ज्ञानी जन भी मूर्ख के सदृश कहलाता है । इसलिए बुद्धिमान् श्रेष्ठ मनुष्य को चाहिए कि, वह क्रोध न करे ।

मूलः-समणं संजयं दंतं,
हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति,
एवं पेहिज्ज संजए ॥ ५ ॥

छायाः-श्रमणं संयतं दान्तं,
हन्यात् कोऽपि कुत्रचित् ।
नास्ति जीवस्य नाश इति,
एवं प्रेक्षेत संयतः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (को वि) कोई भी मनुष्य (कत्थइ) कहीं पर (संजयं) जीवों की रक्षा करने वाले (दंतं) इन्द्रियों को दमन करने वाले (समणं) तपस्वियों को (हणेज्जा) ताड़ना करे, उस समय (जीवस्स) जीव का (नासो) नाश (नत्थि) नहीं है (एवं) इस प्रकार (संजए) वह तपस्वी (पेहिज्ज) विचार कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! सम्पूर्ण जीवों की रक्षा करने वाले तथा इन्द्रिय और मन को जीतने वाले, ऐसे तपस्वी ज्ञानी जनों को कोई मूर्ख मनुष्य कहीं पर ताड़ना आदि करे तो उस समय वे ज्ञानी यों विचार करें कि जीव का तो नाश

होता ही नहीं है। फिर किसी के ताड़ने पर व्यर्थ ही क्रोध क्यों करना चाहिए।

मूलः—बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे।
पंडिआणं सकामं तु, उक्कोसेणं सइं भवे ॥६॥

छायाः—बालानामकामं तु, मरणमसकृद् भवेत्।
पण्डितानां सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत्॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (बालाणं) अज्ञानियों का (अकामं) निष्काम (मरणं) मरण (तु) तो (असइं) बार बार (भवे) होता है। (तु) और (पंडिआणं) पण्डितों का (सकामं) इच्छा सहित (मरणं) मरण (उक्कोसेणं) उत्कृष्ट (सइं) एक बार (भवे) होता है।

भावार्थः—हे गौतम! दुष्कर्म करने वाले अज्ञानियों को तो बार बार जन्मना और मरना पड़ता है। और जो ज्ञानी हैं वे अपना जीवन ज्ञान पूर्वक सदाचार मय बना कर मरते हैं वे एक ही बार में मुक्ति धाम को पहुँच जाते हैं। या सात आठ भव से तो ज्यादा जन्म मरण करते ही नहीं है।

मूलः—सत्थग्गहणं विसभक्खणं च,
जलणं च जलपवेसोय।

अणायारभंडसेवी,
जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ ७ ॥

छायाः--शस्त्रग्रहणं विषभक्षणं च,
ज्वलनं च जलप्रवेशश्च ।
अनाचारभाण्डसेवी च,
जन्ममरणानि बध्यते ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो आत्मघात के लिए (सत्थग्गहणं) शस्त्र ग्रहण करे (च) और (विसभक्खणं) विष भक्षण करे (च) और (जलणं) अग्नि में प्रवेश करे, (जलपवेसो) जल में प्रवेश करे (य) और (अणायार-भंडसेवी) नहीं सेवन करने योग्य सामग्री की इच्छा करे। ऐसा करने से (जम्मणमरणाणि) अनेकों जन्म मरण हो ऐसा कर्म (बंधंति) बांधता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्म-हत्या करने के लिए, तलवार, बरछी, कटारी, आदि शस्त्र का प्रयोग करे। या अफ़ीम, संखिया, सोरा, वच्छनाग, हिरकणी आदि का उपयोग करे, अथवा अग्नि में पड़ कर, या अग्नि में प्रवेश कर या कुआ, बावड़ी, नदी, तालाब में गिर कर मरे तो उसका यह मरण अज्ञान पूर्वक है। इस प्रकार मरने से अनेक जन्म और मरणों की वृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं होता है। और जो मर्यादा के विरुद्ध अपने जीवन को कलुषित करने वाली सामग्री ही को प्राप्त करने के लिए रात दिन जुटा

रहता है, ऐसे पुरुष की आयुष्य पूर्ण होने पर भी उसका मरण आत्म-हत्या के समान ही है।

मूलः—अह पंचहिं ठाणेहिं, जहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥८॥

छायाः-अथ पञ्चभिः स्थानैः,यैः शिक्षा न लभ्यते ।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन,रोगेणालस्येन च.८।

अन्वायर्थः-हे इन्द्रभूति ! (अह) उसके बाद (जेहिं) जिन (पंचहिं) पाँच (ठाणेहिं) कारणों से (सिक्खा) शिक्षा (न) नहीं (लब्भई) पाता है, वे यों हैं। (थंभा) मान से (कोहा) क्रोध से (पमाएणं) प्रमाद से (रोगेणालस्सएणय) रोग से और आलस से ।

भावार्थः-हे आर्य ! जिन पाँच कारणों से इस आत्मा को ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, वे यों हैः-क्रोध करने से, मान करने से, किये हुए कण्ठस्थ ज्ञान का स्मरण नहीं करके नवीन ज्ञान सीखते जाने से, रोगी अवस्था से और आलस्य से ।

मूलः—अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ॥९॥
नासीले न विसीले अ, न सिआ अइलोलुए।

अक्कोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ।१०।

छायाः--अथाष्टभिः स्थानैः, शिक्षाशील इत्युच्यते ।
अहसनशीलः सदा दान्तः, न च मर्मोदाहरः ॥९॥
नाशीलो न विशीलः, न स्यादति लोलुपः ।
अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥१०॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अह) अब (अट्ठहिं) आठ (ठाणेहिं) स्थान कारणों से (सिक्खासीले) शिक्षा प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है। (अहस्सिरे) हँसोड़ न हो (सया) हमेशा (दंते) इन्द्रियों को दमन करने वाला हो. (य) और (मम्मं) मर्म भाषा (न) नहीं (उदाहरे) बोलता हो, (असीले) सर्वथा शील रहित (न) नहीं हो. (अ) और (विसीले) शील दूषित करने वाला (न) न हो (अइलोलुए) अति लोलुपी (न) न (सिआ) हो, (अक्कोहणे) क्रोध न करने वाला हो (सच्चरए) सत्य में रत रहता हो, वह (सिक्खासीले) ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! अगर किसी को ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो, वह विशेष न हँसे सदैव खेल नाटक वग़ैरह देखने आदि के विषयों से इन्द्रियों का दमन करता रहे, किसी की मार्मिक बात को प्रकट न करे, शीलवान् रहे,

अपना आचार विचार शुद्ध रक्खे, अति लोलुपता से सदा दूर रहे, क्रोध न करे, और सत्य का सदैव अनुयायी बना रहे, इस प्रकार रहने से ज्ञान की विशेष प्राप्ति होती है।

मूलः-जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे,
निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छइ सरणं तम्मि काले ॥११॥

छायाः-यो लक्षणं स्वप्नं प्रयुञ्जानः,
निमित्तकौतूहलसम्प्रगाढः।
कुहेटकविद्यास्रवद्वारजीवी,
न गच्छति शरणं तस्मिन् काले ॥११॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति! (जे) जो साधु हो कर (लक्खणं) स्त्री, पुरुष के हाथादि की रेखाओं के लक्षण और (सुविणं) स्वप्न का फलादेश बताने का (पउंजमाणे) प्रयोग करते हों एवं (निमित्तकोऊहलसंपगाढे) भावी फल बताने तथा कौतूहल करने में, या पुत्रोत्पत्ति के साधन बताने में आसक्त हो रहा हो, इसी तरह (कुहेडविज्जासवदारजीवी) मंत्र, तंत्र, विद्या रूप आश्रव के द्वारा जीवन निर्वाह करता हो वह (तम्मि काले) कर्मोदय काल में (सरणं) दुख से बचने के लिए किसी की शरण (न) नहीं (गच्छइ) पाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो सब प्रपंच छोड़ करके साधु तो हो गया है मगर फिर भी वह स्त्री पुरुषों के हाथ व पैरों की रेखाएँ एवं तिल, मस आदि के भले बुरे फल बताता है, या स्वप्न के शुभाशुभ फलादेश को जो कहता है, एवं पुत्रोत्पत्ति आदि के साधन बताता है, इसी तरह मंत्र तंत्रादि विद्या रूप आश्रव के द्वारा जीवन का निर्वाह करता है तो उस के अन्त समय में, जब वे कर्म फल स्वरूप में आकर खड़े होंगे उस समय उसके कोई भी शरण नहीं होंगे, अर्थात् उस समय उसे दुख से कोई भी नहीं बचा सकेगा।

मूलः-पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥

छायाः-पतन्ति नरके घोरे, ये नराः पापकारिणः ।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति चरित्वा धर्ममार्यम् ।१२।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (नरा) मनुष्य (पावकारिणो) पाप करने वाले हैं वे (घोरे) महा भयंकर (नरए) नरक में (पडंति) जा कर गिरते हैं। (च) और (आरियं) सदाचार रूप प्रधान (धम्मं) धर्म को जो (चरित्ता) अंगीकार करते हैं, वे मनुष्य (दिव्वं) श्रेष्ठ (गइं) गति को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे आर्य ! जो आत्माएँ मानव जन्म को पा करके हिंसा, झूठ, चोरी, आदि दुष्कृत्य करती हैं वे पापा-

त्माएँ, महाभयंकर जहाँ दुख हैं ऐसे नरक में जा गिरेंगी। और जिन आत्माओं ने अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य आदि धर्म को अपने जीवन में खूब संग्रह कर लिया है, वे आत्माएँ यहाँ से मरने के पीछे जहाँ स्वर्गीय सुख अधिकता से होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ स्वर्ग में जाती हैं।

मूलः—बहुआगमविरणाणा,
समाहिउप्पायगा य गुणगाही ।
एएण कारणेणं,
अरिहा आलोयणं सोउं ॥ १२ ॥

छायाः—बह्वागमविज्ञानाः,
समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः ।
एतेन कारणेन,
अर्हा आलोचनां श्रोतुम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (बहुआगम विरणाणा) बहुत शास्त्रों का जानने वाला हो (समाहिउप्पायगा) कहने वाले को समाधि उत्पन्न करने वाला हो (य) और (गुणगाही) गुणग्राही हो (एएणं) इन (कारणेणं) कारणों से (आलोयणं) आलोचना को (सोउं) सुनने के लिए (अरिहा) योग्य है।

भावार्थः-हे आर्य ! आन्तरिक बात उसके सामने

प्रकट की जाय जो, कि बहुत शास्त्रों को जानता हो। जो प्रकाशक को सांतना देने वाला हो, गुणग्राही हो। उसी के सामने अपने हृदय की बात खुले दिल से करने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि इन बातों से युक्त मनुष्य ही आलोचक के योग्य है।

मूलः-भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥१४॥

छायाः भावना योगशुद्धात्मा, जले नौरिवाख्याता ।
नौरिव तीरसम्पन्ना, सर्वदुःखात् त्रुट्यति ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (भावणा) शुद्ध भावना रूप (जोगसुद्धप्पा) योग से शुद्ध हो रही है आत्मा जिनकी ऐसे पुरुष (जले णावा व) नौका के समान जल के ऊपर ठहरे हुए हैं। ऐसा (आहिया) कहा गया है। (नावा) जैसे नौका अनुकूल वायु से (तीरसम्पन्ना) तीर पर पहुँच जाती है (व) वैसे ही, नौका रूप शुद्धात्मा के उपदेश से जीव (सव्वदुक्खा) सर्व दुखों से (तिउट्टइ) मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! शुद्धभावना रूप ध्यान से हो रही है आत्मा निर्मल जिनकी, ऐसी शुद्धात्माएँ संसार रूप समुद्र में नौका के समान हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। वे नौका के समान शुद्धात्माएँ आप स्वयं तिर जाती हैं और उनके उप

देश से अन्य जीव भी चरित्रवान् हो कर सर्व दुख रूप संसार समुद्र का अन्त करके उसके परले पार पहुँच जाते हैं।

मूलः- सवणे नाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे, अकिरिया सिद्धी ॥१५॥

छायाः-श्रवणं ज्ञानं विज्ञानं प्रत्याख्यानं च संयमः।
अनाश्रवं तपश्चैव, व्यवदानमक्रिया सिद्धिः॥१५॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! ज्ञानी जनों के संसर्ग से (सवणे) धर्म श्रवण होता है। धर्म श्रवण से (नाणे) ज्ञान होता है। ज्ञान से (विण्णाणे) विज्ञान होता है। विज्ञान से (पच्चक्खाणे) दुराचार का त्याग होता है। (य) और त्याग से (संजमे) संयमी जीवन होता है। संयमी जीवन से (अणण्हए) अनाश्रवी होता है (चेव) और अनाश्रवी होने से (तवे) तपवान् होता है। तपवान् होने से (वोदाणे) पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है और कर्मों के नाश होने से (अकिरिया) क्रिया रहित होता है। और सावद्य क्रिया रहित होने से (सिद्धी) सिद्धि की प्राप्ति होती है

भावार्थः-हे गौतम ! सम्यक् ज्ञानियों की संगति से धर्म का श्रवण होता है, धर्म के श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विशेष ज्ञान या विज्ञान होता है। विज्ञान से पापों के करने का प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान से

संयमी जीवन की प्राप्ति होती है। संयमी जीवन से अनाश्रव अर्थात् आते हुए नवीन कर्मों की रोक हो जाती है। फिर अनाश्रव से जीव तपवान बनता है। तपवान् होने से पूर्व संचित कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों के क्षय हो जानेसे सावद्य क्रिया का आगमन भी बंद हो जाता है। जब क्रिया मात्र रुक गयी तो फिर बस, जीव की मुक्ति ही मुक्ति है। यों, सदाचारी पुरुषों की संगति करने से उत्तरोत्तर सद्गुण ही सद्गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि उसकी मुक्ति हो जाती है।

मूलः-अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्नति।
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वड्ढति अप्पणो ॥१६॥

छायाः-अपि स हास्यमासज्य, हन्ता नन्दीति मन्यते।
अलं बालस्य सङ्गेन, वैरं वर्धते आत्मनः ॥१६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अवि) और जो कुसंग करता है (से) वह (हासमासज्ज) हास्य आदि में आसक्त हो कर (हंता) प्राणियों की हिंसा ही में (णंदीति) आनंद है, ऐसा (मन्नति) मानता है। और उस (बालस्स) अज्ञानी की आत्मा का (वेरं) कर्म बंध (वड्ढति) बढ़ता है।

भावार्थः-हे गौतम! सत्पुरुषों की संगति करने से इस जीव को गुणों की प्राप्ति होती है। और जो हास्यादि में आ-

सक्त हो कर प्राणियों की हिंसा करके आनंद मानते हैं। ऐसे अज्ञानियों की संगति कभी मत करो । क्योंकि ऐसे दुराचारियों का संसर्ग से शराब पीना, माँस खाना, हिंसा करना झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार का सेवन करना आदि दुष्कर्म बढ़ जाते हैं। और उन दुष्कर्मों से आत्मा को महान् कष्ट होता है। अतः मोक्षाभिलाषियों को अज्ञानियों की संगति कभी भूल कर भी नहीं करनी चाहिए।

मूलः—आवस्सयं अवस्सं करणिज्जं,
धुवनिग्गहो विसोही अ ।
अज्झयणछक्कवग्गो,
नाओ आराहणा मग्गो ॥ १७ ॥

छायाः-आवश्यकमवश्यं करणीयम ,
ध्रुवनिग्रहः विशोधितम् ।
अध्ययनषट्कवर्गः,
न्याय आराधना मार्गः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (धुवनिग्गहो) सदैव इन्द्रियों को निग्रह करने वाला (विसोही अ) आत्मा को विशेष प्रकार से शोधित करने वाला (नाओ) न्याय के काँटे के समान (आराहणा) जिससे वीतराग के वचनों का पालन हो ऐसा (मग्गो) मोक्ष मार्ग रूप (अज्झयणछक्कवग्गो) छः वर्ग "अध्ययन" हैं पढ़ने के जिसके ऐसा ('आवस्सयं)

आवश्यक-प्रतिक्रमण (अवस्सं) अवश्य (करणिज्जं) करने योग्य है।

भावार्थः-हे गौतम ! हमेशा इन्द्रियों के विषय को रोकने वाला, और अपवित्र आत्मा को भी निर्मल बनाने वाला, न्यायकारी, अपने जीवन को सार्थक करने वाला और मोक्ष मार्ग का प्रदर्शक रूप छः अध्ययन हैं पढ़ने के जिस में ऐसा आवश्यक सूत्र साधु साध्वी तथा गृहस्थों को सदैव प्रातः काल और सायंकाल दोनों समय अवश्य करना चाहिये। जिसके करने से अपने नियमों के विरुद्ध दिन रात भर में भूल से किये हुए कार्यों का प्रायश्चित्त हो जाता है। हे गौतम ! वह आवश्यक यों है।

मूलः-सावज्जजोगविरई,
उक्कित्तण गुणवओ च पडिवत्ती।
खलिअस्स निंदणा,
वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥१८॥

छायाः सावद्ययोग विरतिः,
उत्कीर्त्तनं गुणवतश्च प्रतिपत्तिः,
स्खलितस्य निन्दना,
व्रणचिकित्सा गुणधारणा चैव ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सावज्जजोगविरई) सावद्य

योग से निवृत्ति (उक्कित्तगा) प्रभु की प्रार्थना (य) और (गुणवओ) गुणवान् गुरुओं को (पडिवत्ति) विधि पूर्वक नमस्कार। (खलिअस्स) अपने दोषों का (निंदणा) निरीक्षण (वणतिगिच्छ) छिद्र के समान लगे हुए दोषों का प्रायश्चित ग्रहण करता हुआ निवृत्ति रूप औषधि का सेवन करना (चेव) और (गुणधारणा) अपनी शक्ति के अनुसार त्याग रूप गुणों को धारण करना।

भावार्थः हे गौतम! जहाँ हरी वनस्पति चींटियाँ कुंथुए बहुत ही छोटे जीव वगैरह न हों ऐसे एकान्त स्थान पर कुछ भी पाप नहीं करना, ऐसा निश्चय करके, कुछ समय के लिए अपने चित्त को स्थिर कर लेना, यह आवश्यक का प्रथम अध्ययन हुआ। फिर प्रभु की प्रार्थना करना, यह द्वितीय अध्ययन है। उसके बाद गुणवान् गुरुओं को विधि पूर्वक हृदय से नमस्कार करना यह तीसरा अध्ययन है। किये हुए पापों की आलोचना करना चौथा अध्ययन और उसका प्रायश्चित ग्रहण करना पांचवां अध्ययन और छठी बार यथा शक्ति त्याग की वृद्धि करे। इस तरह षडावश्यक हमेशा दोनों समय करता रहे। यह साधु और गृहस्थों का नियम है।

मूलः-जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥१६॥

छायाः-यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च।
तस्य सामायिकं भवति, इति केवलिभाषितम् ॥१६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जो) जो मनुष्य (तसेसु) त्रस (य) और (थावरेसु) स्थावर (सव्वभूएसु) समस्त प्राणियों पर (समो) समभाव रखने वाला है । (तस्स) उसके (सामाइयं) सामायिक (होइ) होती है (इइ) ऐसा (केवली) वीतराग ने (भासियं) कहा है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस मनुष्य का हरीवनस्पति आदि जीवों पर तथा हिलते फिरते प्राणी मात्र के ऊपर सम भाव है अर्थात् सूई चूभोने से अपने को कष्ट होता है। ऐसे ही कष्ट दूसरों के लिए भी समझता है। बस, उसी की सामायिक होती है ऐसा वीतरागों ने प्रतिपादन किया है । इस तरह सामायिक करने वाला मोक्ष का पथिक बन जाता है ।

मूलः—तिण्णिय सहस्सा सत्त सयाइं,
तेहुत्तरिं च ऊसासा ।
एस मुहुत्तो दिट्ठो,
सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ २० ॥

छायाः-त्रीणि सहस्राणि सप्तशतानि,
त्रिसप्ततिश्च उच्छ्वासः ।
एषो मुहूर्त्तो दृष्टः,
सर्वैरनन्त ज्ञानिभिः ॥ २० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तिण्णियसहस्सा) तीन

हज़ार (सत्तसयाइं) सातसौ (च) और (तेहत्तरिं) तिह-त्तर (ऊसासा) उच्छ्वासों का (एस) यह (मुहुत्तो) मुहूर्त्त होता है। ऐसा (सव्वेहिं) सभी (अणंतनाणीहिं) अनंत ज्ञानियों के द्वारा (दिट्ठो) देखा गया है।

भावार्थः-हे गौतम ! ३७७३ तीन हज़ार सात सौ तिह-त्तर उच्छ्वासों का समूह एक मुहूर्त्त होता है। ऐसा सभी अनंत ज्ञानियों ने कहा है।

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥



॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

(अध्याय सत्रहवां)

नर्कस्वर्ग निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे ।
रयणाभासक्कराभा, वालुयाभा य आहिआ ॥१॥
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।
इइ नेरइआ एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥२॥

छायाः-नैरयिकाः सप्तविधाः, पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः ।
रत्नभा शर्कराभा, वालुकाभा च आख्याता ॥१॥
पङ्काभा धूमाभा, तमः तमस्तमः तथा ।
इति नैरयिका एते, सप्तधा परिकीर्त्तिताः ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नेरइया) नरक (सत्तसू)

सात अलग अलग (पुढवीसु) पृथ्वी में (भवे) होने से (सत्तविहा) सात प्रकार का (आहिआ) कहा गया है। (रयणाभासक्कराभा) रत्न प्रभा, शर्कराप्रभा (य) और (वालुयाभा) बालु प्रभा (पंकाभा) पंक प्रभा (धूमाभा) धूमप्रभा (तमा) तम प्रभा (तहा) वैसे ही तथा (तमतमा) तमतमा प्रभा (इइ) इस प्रकार (एए) ये (नेरइया) नरक (सत्तहा) सात प्रकार के (परिकित्तिआ) कहे गये हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! एक से एक भिन्न होने से नरक को ज्ञानी जनों ने सात प्रकार का कहा है। वे इस प्रकार हैं। (१) वैडुर्य रत्न के समान है प्रभा जिस की उसको रत्न प्रभा नाम से पहला नरक कहा है। (२) इसी तरह पाषाण, धूल, कर्दम, धून्र के समान है प्रभा जिसकी उसको यथाक्रम शर्करा प्रभा (३) वालुका प्रभा (४) पंक प्रभा और (५) धूम प्रभा कहते हैं। और जहाँ अन्धकार है उसको (६) तम प्रभा कहते हैं। और जहाँ विशेष अन्धकार है उसको (७) तमतमा प्रभा सातवां नरक कहते हैं।

मूलः—जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमिसंधयारे,
तिव्वाभितावे नरए पडंति ।। ३ ।।

छायाः-ये केऽपि वाला इह जीवितार्थिनः,
पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रुद्राः।
ते घोररूपे तमिस्त्रान्धकारे,
तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (ज) जो (केइ) कितनेक (जीवियट्ठी) पापमय जीवन के अर्थी (वाला) अज्ञानी लोग (रुद्दा) रौद्र (पावाइं) पाप (कम्माइं) कर्मों को (करंति) करते हैं। (ते) वे (घोर रूवे) अत्यंत भयानक और (तामिसंधयारे) अत्यन्त अन्धःकार युक्त, एवं (तिव्वाभितावे) तीव्र है ताप जिसमें ऐसे (नरए) नरक में (पडंति) जा गिरते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! इस संसार में कितनेक ऐसे जीव हैं, कि वे अपने पाप मय जीवन के लिए महान् हिंसा आदि पाप कर्म करते हैं। इसीलिए वे महान् भयानक और अत्यन्त अन्धकार युक्त तीव्र सन्तोप दायक नरक में जा गिरते हैं और वर्षों तक अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते रहते हैं।

मूलः-तिव्वं तसे पाणिणो थावरे या,
जे हिंसती आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥४॥

छायाः-तीव्रं त्रसान् प्राणिनः स्थावरान् वा,
यो हिनस्ति आत्मसुखं प्रतीत्य।
यो लूषको भवन्ति अदत्तहारी,
न शिक्षते सेवनीयस्य किञ्चित्॥४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जे) जो (तसे) त्रस (या) और (थावरे) स्थावर (पाणिणो) प्राणियों की (तिव्वं) तीव्रता से (हिंसती) हिंसा करता है, और (आयसुहं) आत्म सुख के (पडुच्च) लिए (जे) जो मनुष्य (लूसए) प्राणियों का उपमर्दक (होइ) होता है। एवं (अदत्तहारी) नहीं दी हुई वस्तुओं का हरण करने वाला (किंचि) थोड़ा सा भी (सेयविस्स) अंगीकार करने योग्य व्रत के पालन का (ण) नहीं (सिक्खती) अभ्यास करता है। वह नरक में जा कर दुख उठाता है।

भावार्थ-हे गौतम! जो मनुष्य, हलन चलन करने वाले अर्थात् त्रस तथा स्थावर जीवों की निर्दयता पूर्वक हिंसा करता है। और जो शारीरिक पौद्गलिक सुखों के लिए जीवों का उपमर्दन करता है। एवं दूसरों की चीज़ें हरण करने ही में अपने जीवन की सफलता समझता है। और किसी भी व्रत को अंगीकार नहीं करता, वह यहाँ से मर कर नरक में जाता है। और स्व-कृत कर्मों के अनुसार वहाँ नाना भाँति के दुख भोगता है।

मूलः-छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवेवि कण्णे।

जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,

तिक्खाहिसूलाभितावयंति ॥ ५ ॥

छायाः-छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नासिकाम्,

औष्ठावपि छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ।

जिह्वां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रं,

तीक्ष्णैः शूलादभितापयन्ति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! परमाधामी देव नरक में (बालस्स) अज्ञानी के (खुरेण) छुरी से (नक्कं) नाक को (छिंदंति) छेदते हैं। (उट्ठेवि) ओठों को भी और (दुवे) दोनों (कन्ने) कानों को (वि) भी (छिंदंति) छेदते हैं। तथा (विहत्थिमित्तं) बेंत के समान लम्बाई भर (जिब्भं) जिह्वा को (विणिक्कस्स) बाहर निकाल करके (तिक्खाहि) तीक्ष्ण (सूला) शूलों आदि से (अभितावयंति) छेदते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! जो अज्ञानी जीव, हिंसा, झूँठ चोरी और व्यभिचार आदि करके नरक में जा गिरते हैं। असुर कुमार परमाधामी उन पापियों के कान नाक और ओठों को छुरी से छेदते हैं। और उनके मुँह में से जिह्वा को बेंत जितनी लम्बाई भर बाहर खींच कर तीक्ष्ण शूलों से छेदते हैं।

मूलः-ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व,
राइंदियं तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणिअपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ ६ ॥

छायाः-ते तिप्पमाना तलसम्पुटइव,
रात्रिन्दिवा तत्र स्तनन्ति बालाः।
गलन्ति ते शोणितपूतमांसं,
प्रद्योतिता क्षार प्रदिग्धांगाः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (तत्थ) वहाँ नरक में (ते) वे (तिप्पमाणा) रुधिर झरते हुए (बाला) अज्ञानी (राइंदियं) रात दिन (तलसंपुडं) पवन से प्रेरित ताल वृक्षों के सूखे पत्तों के शब्द के (व्व) समान (थणंति) आक्रन्दन का शब्द करते हैं। (ते) वे नारकीय जीव (पज्जोइया) अग्नि से प्रज्वलित (खारपइद्धियंगा) क्षार से जलाये हुए अंग जिससे (सोणिअपूयमंसं) रुधिर, रसी और मांस (गलंति) झरते रहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! नरक में गये हुए उन हिंसादि महान् आरम्भ के करने वाले नारकीय जीवों के नाक, कान आदि काटलेने से रुधिर बहता रहता है और वे रात दिन बड़े आक्रंदन स्वर से रोते हैं। और उस छेदे हुए अंग को अग्नि से जलाते हैं। फिर उसके ऊपर लवणादिक क्षार को छिट॰

कते हैं। जिस से और भी विशेष रुधिर पूय और मांस ग्रता रहता है।

मूलः—रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे,
　　　भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता ।
　पयंति णं णेरइए फुरंते,
　　　सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥ ७ ॥

छायाः—रुधिरे पुनो वर्चः समुच्छ्रिताङ्गान्,
　　　भिन्नोत्तमाङ्गान् परिवर्त्तयन्तः ।
　पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः,
　　　सजीवमत्स्यानिवायः कटाहे ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पुणो) फिर (वच्च) दुर्गंध मल से (समुस्सिअंगे) लिपटा हुआ है अंग जिनका और (भिन्नुत्तमंगे) सर जिनका छेदा हुआ है ऐसे नारकीय जीवों का खून निकालते हैं और (रुहिरे) उसी खून के तपे हुए कड़ाहे में उन्हें डाल कर (परिवत्तयंता) इधर उधर हिलाते हुए परमाधामी (पयंति) पकाते हैं। तब (णेरइए) नारकीय जीव (अयोकवल्ले) लोहे के कड़ाहे में (सजीव मच्छेव) सजीव मच्छी की तरह (फुरंते) तड़फड़ाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिन आत्माओं ने शरीर को

आराम पहुँचाने के लिए हर तरह से अनेकों प्रकार के जीवों की हिंसा की है, वे आत्माएँ नरक में जा कर जब उत्पन्न होती हैं, तब परमाधामी देव दुर्गन्ध युक्त वस्तुओं से लिपटे हुए उन नारकीय आत्माओं के सिर छेदन कर उन्हीं के शरीर से खून निकाल उन्हें तप्त कड़ाहे में डालते हैं। और उन्हें खूब ही उबाल करके जलाते हैं। असुर कुमारों के ऐसा करने पर वे नारकीय आत्माएँ उस तपे हुए कड़ाहे में तप्त तवे पर डाली हुई सजीव मछली की तरह तड़फड़ाती है।

मूलः—नो चेव ते तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्जती तिव्वाभिवेयणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥८॥

छायाः—नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति,
न म्रियन्ते तीव्राभीवेदनाभिः ।
तदनुभागमनुवेदयन्तः,
दुःखयन्ति दुःखिन इह दुष्कृतेन ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) नरक में (ते) वे नारकीय जीव पकाने से (नो चेव) नहीं (मसी भवंति) भस्म होते हैं। और (तिव्वाभिवेयणाए) तीव्र वेदना से (न) नहीं (मिज्जति) मरते हैं। (दुक्खी) वे दुखी जीव (दुक्कडेणं) अपने किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा (तमाणुभागं)

उसके फल को (अणुवेदयंता) भोगते हुए (दुक्खंति) कष्ट उठाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! नारकीय जीव उन परमाधामी देवों के द्वारा पकाये जाने पर न तो भस्मीभूत ही होते हैं और न उस महान् भयानक छेदन भेदन तथा ताड़न आदि ही से मरते हैं। किन्तु अपने किये हुए दुष्कर्मों के फलों को भोगते हुए बड़े कष्ट से समय विताते रहते हैं।

मूलः-अच्छीनिमिलियमेत्तं,
　　　　नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं ।
　　नरए　　नेरइयाणं,
　　　　अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ ६ ॥

छायाः-अक्षिनिमीलितमात्रं,
　　　　नास्ति सुखं दुःखमेवानुबद्धम् ।
　　नरके नैरयिकाणाम्,
　　　　अहर्निशं पच्यमानानाम् ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अहोनिसं) रात दिन (पच्चमाणाणं) पचते हुए (नेरइयाणं) नारकीय जीवों को (नरए) नरक में (अच्छी) आँख (निमिलियमेत्तं) टिम टिमावे इतने समय के लिये भी (सुहं) सुख (नत्थि) नहीं है। क्योंकि(दुक्खमेव) दुख ही (अणुबद्धं) अनुबद्ध हो रहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! सदैव कष्ट उठाते हुए नारकीय जीवों को एक पल भर भी सुख नहीं है। एक दुख के बाद दूसरा दुख उनके लिए तैयार रहता है।

मूलः-अइसीयं अइउएहं,
अइतएहा अइक्खुहा।
अईभयं च नरए नेरयाणं,
दुक्खसयाइं अविस्सामं ॥१०॥

छायाः-अतिशीतम् अत्युष्णं,
अतितृपाऽति क्षुधा।
अतिभयं च नरके नैरयिकाणाम्,
दुःखशतान्यविश्रामम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नरए) नरक में (नेरयाणं) नारकीय जीवों को (अइसीयं) अति शीत (अइउएहं) अति उष्ण (अइतएहा) अति तृष्णा (अइक्खुहा) अति भूख (च) और (अईभयं) अति भय (दुक्खसयाइं) सैकड़ों दुख (अविस्सामं) विश्राम रहित भोगना पड़ता है।

भावार्थः-हे गौतम ! नरक में रहे हुए जीवों को अत्यंत ठण्ड उष्ण भूख तृष्णा और भय आदि सैकड़ों दुःख एक के बाद एक लगातार रूप से कृत-कर्मों के फल रूप में भोगने पड़ते हैं।

मूलः-जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए ।
एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता,
वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥११॥

छायाः-यत्यादृशं पूर्वमकार्षीत् कर्म,
तदेवागच्छति सम्पराये ।
एकान्तदुःखं भवं मर्जयित्वा,
वेद्यन्ति दुःखिन स्तमनन्तदुःखम् ॥११॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (जं) जो (कम्मं) कर्म (जारिसं) जैसे (पुव्वं) पूर्व भव में जीव ने (अकासि) किये हैं (तमेव) वैसे ही, उसके फल (संपराए) संसार में (आगच्छति) प्राप्त होते हैं । (एगंतदुक्खं) केवल दुःख है जिसमें ऐसे नारकीय (भवं) जन्म को (अज्जणित्ता) उपार्जन करके (दुक्खी) वे दुखी जीव (तं) उस (अणंत-दुक्खं) अपार दुख को (वेदंति) भोगते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! इस आत्मा ने जैसे पुण्य पाप किये हैं; उसी के अनुसार जन्म जन्मान्तर रूप संसार में उसे सुख दुख मिलते रहते हैं । यदि उसने विशेष पाप किये हैं तो जहाँ घोर कष्ट होते हैं ऐसे नारकीय जन्म उपार्जन करके वह उस नरक में जा पड़ती है और अनंत दुखों को सहती रहती है ।

मूलः—जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
　　　　समाययंती अमइं गहाय।
　　पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
　　　　वेराणुबद्धा नरयं उविंति ॥ १२ ॥

छायाः-ये पापकर्म भिर्धनं मनुष्याः,
　　　　समार्जयन्ति अमतिं गृहीत्वा।
　　प्रदाय ते पाशप्रवृत्ताः नराः,
　　　　वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (मणूसा) मनुष्य (अमइं) कुमति को (गहाय) ग्रहण करके (पावकम्मेहिं) पाप कर्म के द्वारा (धणं) धन को (समाययंती) उपार्जन करते हैं, (ते) वे (नरे) मनुष्य (पासपयट्टिए) कुटुम्बियों के मोह में फंसे हुए होते हैं, वे, (पहाय) उन्हें छोड़ कर (वेराणुबद्धा) पाप के अनुबंध करने वाले (नरयं) नरक में जा कर (उविंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य पाप बुद्धि से कुटुम्बियों के भरण पोषण रूप मोह-पाश में फँसता हुआ, गरीब लोगों को ठग कर अन्याय से धन पैदा करता है, वह मनुष्य धन और कुटुम्ब को यहीं छोड़ कर और जो पाप किये हैं उनको अपना साथी बना कर नरक में उत्पन्न होता है।

मूलः-एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्वलोए ।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥१३॥

छायाः-एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरः,
न हिंस्यात् कञ्चन् सर्वलोके ।
एकान्त दृष्टिरपरिग्रहस्तु,
बुध्वा लोकस्य वशं न गच्छेत् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एगंतदिट्ठी) केवल सम्यक्त्व की है दृष्टि जिनकी और (अपरिग्गहेउ) ममत्व भाव रहित ऐसे जो (धीरे) बुद्धिमान् मनुष्य हैं वे (एयाणि) इन (णरगाणि) नरक के दुखों को (सोच्चा) सुन कर (सव्वलोए) सम्पूर्ण लोक में (किंचण) किसी भी प्रकार के जीवों की (न) नहीं (हिंसए) हिंसा करें (लोयस्स) कर्म रूप लोक को (बुज्झिज्ज) जान कर (वसं) उसकी आधीनता में (न) नहीं (गच्छे) जावे ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है और ममत्व से विमुख हो रहा है ऐसा बुद्धिमान् तो इस प्रकार के नारकीय दुखों को एक मात्र सुन कर किसी भी प्रकार की कोई हिंसा नहीं करेगा । यही नहीं वह क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अहंकार रूप लोक के स्वरूप को

समझ कर और उसके आधीन हो कर कभी भी कर्मों के बन्धनों को प्राप्त न करेगा । वह स्वर्ग में जाकर देवता होगा । देवता चार प्रकार के हैं । वे यों हैः—

मूलः—देवा चउव्विहा वुत्ता,
ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमेज्ज वाणमन्तर,
जोइस वेमाणिया तहा ॥ १४ ॥

छायाः—देवाश्चतुर्विधा उक्ताः,
तान्मे कीर्तयतः शृणु ।
भौमेया व्यन्तराः,
ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (देवा) देवता (चउव्विहा) चार प्रकार के (वुत्ता) कहे हैं । (ते) वे (मे) मेरे द्वारा (कित्तयओ) कहे हुए तू (सुण) श्रवण कर (भोमेज्ज वाणमंतर) भवनपति, वाणव्यन्तर (तहा) तथा (जोइस वेमाणिया) ज्योतिषी और वैमानिक देव ।

भावार्थः-हे गौतम ! देव चार प्रकार के होते हैं । उन्हें तू सुन । (१) भवनपति (२) वाणव्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक । भवनपति इस पृथ्वी से १०० योजन नीचे की ओर रहते हैं । वाणव्यन्तर १० योजन नीचे रहते हैं ।

ज्योतिषी देव ७९० योजन इस पृथ्वी से ऊपर की ओर रहते हैं। परन्तु वैमानिक देव तो इन ज्योतिषी देवों से भी असंख्य योजन ऊपर रहते हैं।

मूलः—दसहा उ भवणवासी,
अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया;
दुविहा वेमाणिया तहा ॥ १५ ॥

छायाः—दशधा तु भवनवासिनः,
अष्टधा वन चारिणः।
पञ्चविधा ज्योतिष्काः,
द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (भवणवासी) भवनपति देव (दसहा) दस प्रकार के होते हैं। और (वणचारिणो) वाणव्यन्तर (अट्ठहा) आठ प्रकार के हैं। (जोइसिया) ज्योतिषी (पंचविहा) पांच प्रकार के होते हैं। (तहा) वैसे ही (वेमाणिया) वैमानिक (दुविहा) दो प्रकार के हैं।

भावार्थः—हे गौतम! भवनपति देव दश प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं और ज्योतिषी पांच प्रकार के हैं। वैसे ही वैमानिक देव भी दो प्रकार के हैं। अब भवनपति के दश भेद कहते हैं।

मूलः-असुरा नागसुवरणा,
विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहि दिसा वाया,
थणिया भवणवासिणो॥ १६॥

छायाः-असुरा नागाः सुवर्णाः,
विद्युतोऽग्रयो व्याख्याताः।
द्वीपा उदधयो दिशो वायवः,
स्तनिता भवनवासिनः॥ १६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (असुरा) असुर कुमार (नागसुवरणा) नाग कुमार, सुवर्ण कुमार (विज्जू) विद्युत कुमार (अग्गी) अग्निकुमार (दीवोदहि) द्वीपकुमार, उदधि कुमार (दिसा) दिक्कुमार (वाया) वायुकुमार तथा (थणिया) स्तनित कुमार। इस प्रकार (भवणवासिणो) भवनवासी देव (वियाहिया) कहे गये हैं।

भावार्थः-हे गौतम! असुर कुमार, नागकुमार सुवर्ण कुमार, विद्युत कुमार, अग्निकुमार द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार यों ज्ञानियों द्वारा दश प्रकार के भवनपति देव, कहे गये हैं। अब आगे आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव यों हैं।

मूलः—पिसाय भूय जक्खा य,
　　　　रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा ।
　　महोरगा य गंधव्वा,
　　　　अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥ १७ ॥

छायाः-पिशाचा भूता यक्षाश्च,
　　　　राक्षसाः किन्नराः किंपुरुषाः ।
　　महोरगाश्च गन्धर्वाः,
　　　　अष्टविधा व्यन्तराः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (वाणमंतरा) वाणव्यन्तर देव (अट्ठविहा) आठ प्रकार के होते हैं। जैसे (पिसाय) पिशाच (भूय) भूत (जक्खा) यक्ष (य) और (रक्खसा) राक्षस (य) और (किन्नरा) किंनर (किंपुरिसा) किंपुरुष (महोरगा) महोरग (य) और (गंधव्वा) गंधर्व ।

भावार्थः-हे गौतम ! वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं। जैसे (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गंधर्व । ज्योतिषी देवों के पाँच भेद यों हैं:—

मूलः—चन्दा सूरा य नक्खत्ता,
　　　　गहा तारागणा तहा ।

ठिया विचारिणो चेव,
पंचहा जोइसालया ॥ १८ ॥

छायाः-चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि,
ग्रहास्तारागणास्तथा।
स्थिरा विचारिण श्चैव,
पंचधा ज्योतिरालयाः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जोइसालया) ज्योतिषी देव (पंचहा) पांच प्रकार के हैं। (चन्दा) चन्द्र (सूरा) सूर्य (य) और (नक्खत्ता) नक्षत्र (गहा) ग्रह (तहा) तथा (तारागणा) तारागण। जो (ठिया) ढाईद्वीप के बाहर स्थिर है। (चेव) और ढाईद्वीप के भीतर (विचारिणो) चलते फिरते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं। (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारागण। ये देव ढाइद्वीप के बाहर तो स्थिर रहने वाले हैं और उस के भीतर चलते फिरते हैं। वैमानिक देवों के भेद यों हैः—

मूलः-वेमाणिया उ जे देवा,
दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा,
कप्पाईया तहेव य ॥ १९ ॥

छाया:-वैमानिकास्तु ये देवाः,
द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्याः,
कल्पातीतास्तथैव च ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (देवा) देव (वेमाणिया उ) वैमानिक हैं । (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं । एक तो (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (य) और (तहेव य) वैसे ही (कप्पाईया) कल्पातीत (बोधव्वा) जानना ।

भावार्थः-हे गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के हैं । एक तो कल्पोत्पन्न और दूसरे कल्पातीत । कल्पोत्पन्न से ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते हैं । और जो कल्पोत्पन्न हैं वे बारह प्रकार के हैं । वे यों हैं:—

मूलः—कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिन्दा, बम्भलोगा य लंतगा ॥२०॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१॥

छाया:-कल्पोपगा द्वादशधा, सौधर्मै शानगास्तथा ।
सनत्कुमारा माहेन्द्राः, ब्रह्मलोकाश्च लान्तका २०
महाशुक्राः सहस्राराः, आनताः प्राणतास्तथा ।
आरणा अच्युताश्चैव, इति कल्पोपगाः सुरा २१

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न देव (बारसहा) बारह प्रकार के हैं (सोहम्मीसाणगा) सुधर्म, ईशान (तहा) तथा (सणंकुमार) सनत्कुमार (माहिन्दा) महेन्द्र (बम्भलोगा) ब्रह्म (य) और (लंतगा) लांतक (महासुक्का) महाशुक्र (सहस्सारा) सहसार (आणया) आणत (पाणया) प्राणत (तहा) तथा (आरणा) अरण (चेव) और (अच्चूया) अच्युत, देव लोक (इइ) ये हैं। और इन्हीं के नामों पर से (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (सुरा) देवों के नाम भी हैं।

भावार्थः-हे गौतम! कल्पोत्पन्न देवों के बारह भेद हैं और वे यों हैं:—(१) सुधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) महेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लांतक (७) महाशुक्र (८) सहसार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत ये देवलोक हैं। इन स्वर्गों के नामों पर से ही इन में रहने वाले इन्द्रों के भी नाम हैं। कल्पातीत देवों के नाम यों हैं:—

मूलः—कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जानवविहा तहिं।२२।

छायाः-कल्पातीतास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
ग्रैवेयका अनुत्तराश्चैव, ग्रैवेयका नवविधास्तत्र २२

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति! (जे) जो (कप्पाईयाउ)

कल्पातीत देव हैं, (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं । (गेविज्ज) ग्रैवेयक (चेव) और (अणुत्तरा) अनुत्तर (तहिं) उस में (गेविज्ज) ग्रैवेयक (नवविहा) नव प्रकार के हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं । एक तो ग्रैवेयक और दूसरे अणुत्तर वैमानिक । उन में भी ग्रैवेयक नौ प्रकार के और अणुत्तर पांच प्रकार के हैं ।

मूलः—हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव,
हेट्ठिमा मज्झिमा तहा ।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव,
मज्झिमा हेट्ठिमा तहा ॥ २३ ॥
मज्झिमा मज्झिमा चेव,
मज्झिमा उवरिमा तहा ।
उवरिमा हेट्ठिमा चेव,
उवरिमा मज्झिमा तहा ॥ २४ ॥
उवरिमा उवरिमा चेव,
इय गेविज्जगा सुरा ।
विजया वेजयंता य,
जयंता अपराजिया ॥ २५ ॥

सव्वत्थसिद्धगा चेव,
पंचहाणुत्तरा सुरा ।
इइ वेमाणिया,
एएऽणेगहा एवमायश्रो ॥ २६ ॥

छाया:-अधस्तनाधस्तनाश्चैव,
अधस्तनामध्यमास्तथा ।
अधस्तनोपरितनाश्चैव,
मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥ २३ ॥
मध्यमामध्यमाश्चैव,
मध्यमोपरितनास्तथा ।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव,
उपरितनमध्यमास्तथा ॥ २४ ॥
उपरितनोपरितनाश्चैव,
इति ग्रैवेयकाः सुरा ।
विजया वैजयन्ताश्च,
जयन्ता अपराजिताः ॥ २५ ॥
सर्वार्थसिद्धकाश्चैव,
पंचधाऽनुत्तराः सुराः ।
इति वैमानिका एते,
अनेकधा एवमादयः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (हेट्ठिमा हेट्ठिमा) नीचे की त्रिक का नीचे वाला (चेव) और (हेट्ठिमा मज्झिमा) नीचे की त्रिक का बीच वाला । (तहा) तथा (हेट्ठिमाउवरिमा) नीचे की त्रिक का ऊपर वाला (चेव) और (मज्झिमा हेट्ठिमा) बीच की त्रिक का नीचे वाला (तहा) तथा (मज्झिमा मज्झिमा) बीच की त्रिक का बीचवाला (चेव) और (मज्झिमा उवरिमा) बीच की त्रिक का ऊपर वाला (तहा) तथा (उवरिमाहेट्ठिमा) ऊपर की त्रिक का नीचे वाला (चेव) और (उवरिमामज्झिमा) ऊपर की त्रिक का बीच वाला (तहा) तथा (उवरिमा उवरिमा) ऊपर की त्रिक का ऊपर वाला (इइ) इस प्रकार नौ भेदों से (गेविज्जगा) ग्रैवेयक के (सुरा) देवता हैं। (विजया) विजय (वेजयंता) वैजयंत (अ) और (जयंता) जयंत (अपराजिया) अपराजित (चेव) और (सव्वत्थसिद्धगा) सर्वार्थसिद्ध ये (पंचहा) पाँच प्रकार के (अणुत्तरा) अनुत्तर विमान के (सुरा) देवता कहे गये हैं। (इइ) इस प्रकार (एए) ये मुख्य मुख्य (वेमाणिया) वैमानिक देवों के भेद कहे गये हैं। और प्रभेद तो (एवमायओ) ये आदि में (अणेगहा) अनेक प्रकार के हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! बारह देवलोक से ऊपर नौ ग्रैवेयक जो हैं उन के नाम यों हैं। (१) भद्दे (२) सुभद्दे (३) सुजाये (४) सुमाणसे (५) सुदर्शने (६) प्रियदर्शने (७) अमोहे (८) सुपडिभद्दे और (९) यशोधर और पांच अनुत्तर विमान यों हैं:—(१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत (४) अपराजित (५) सर्वार्थसिद्ध, ये सब वैमानिक देवों के भेद बताए गये हैं।

मूलः-जेसिं तु विउला सिक्खा,
मूलियं ते अइत्थिया।
सीलवंता सवीसेसा,
अदीणा जंति देवयं ॥ २७ ॥

(१) किसी एक साहूकार ने अपने तीन लड़कों को एक एक हजार रुपया दे कर व्यापार करने के लिए इतर देश को भेजा। उन में से एक ने तो यह विचार किया कि अपने घर में खूब धन है। फ़िजूल ही व्यापार कर कौन कष्ट उठावे, अतः एशो आराम करके उसने मूल पूंजी को भी खो दिया। दूसरे ने विचार किया, कि व्यापार करके मूल पूंजी तो ज्यों की त्यों कायम रखनी चाहिए। परन्तु जो लाभ हो उसे एशो आराम में खर्च कर देना चाहिए। और तीसरे ने विचार किया, कि मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर घर चलना चाहिए। इसी तरह वे तीनों नियत समय पर घर आये। एक मूल पूंजी को खो कर, दूसरा मूल पूंजी लेकर, और तीसरा मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर घर आया। इसी तरह आत्माओं को मनुष्य-भव रूप मूल धन प्राप्त हुआ है। जो आत्माएँ मनुष्य भव रूप मूल धन की अपेक्षा करके खूब पापाचरण करती हैं वे मनुष्य-भव को खो कर नरक और तिर्यंच योनियों में जाकर जन्म धारण करती हैं। और जो आत्माएँ पाप करने से पीछे हटती हैं, वे अपनी मूल पूंजी रूप मनुष्य जन्म

छाया:-येषां तु विपुला शिक्षा,
मूलकं तेऽतिक्रान्ताः ।
शीलवन्तः सविशेषाः,
अदीना यान्ति देवत्वम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जेसिं) जिन्होंने (विउला) अत्यन्त (सिक्खा) शिक्षा का सेवन किया है। (ते) वे (सीलवंता) सदाचारी (सविसेसा) उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करने वाले (अदीणा) अदीन-वृत्तवाले (मूलियं) मूल धन रूप मनुष्य-भव को (अइछियया) उल्लंघन कर (देवयं) देव लोक को (जंति) जाते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार के देव-लोकों में वे ही मनुष्य जाते हैं जो सदाचार रूप शिक्षाओं को अत्यन्त सेवन करते हैं। और त्याग धर्म में जिन की निष्ठा दिनों दिन बढ़ती ही जाती है। वे मनुष्य, मनुष्य-भव को त्यागकर स्वर्ग में जाते हैं

हां को प्राप्त होता है। परन्तु जो आत्मा अपना वश चलते सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, ममत्व आदि का परित्याग करके अपने त्याग धर्म में वृद्धि करती जाती है। वे सांसारिक सुख की दृष्टि से मनुष्य-भव रूपी मूल पूंजी से भी बढ़ कर देव-योनि को प्राप्त होती हैं। अर्थात् स्वर्ग में जाकर वे आत्माएँ जन्म धारण करती हैं और वहाँ नाना भाँति के सुखों को भोगती हैं।

मूलः—विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तरउत्तरा।
महासुक्का वदिप्पंता, मएणंता अपुणच्चवं ॥२८॥
अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया बहू ॥२९॥

छायाः-विसदृशैः शीलैः,
यक्षा उत्तरोत्तराः।
महा शुक्ला इव दीप्यमानाः,
मन्यमाना अपुनश्च्यवम् ॥ २८ ॥
अर्पिता देवकामान्,
कामरुपवैक्रियिणः।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति,
पूर्वाणि वर्ष शतानि बहूनि ॥२९॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (विसालिसेहिं) विसदृश अर्थात् भिन्न भिन्न (सीलेहिं) सदाचारों से (उत्तरउत्तरा) प्रधान से प्रधान (महासुक्का) महाशुक्ल अर्थात् बिलकुल सफेद चन्द्रमा की (व) तरह (दिप्पंता) देदीप्यमान् (अपुणच्चवं) फिर चवना नहीं ऐसा (मएणंता) मानते हुए (कामरूवविउव्विणो) इच्छित रूप के बनाने वाले (बहू) बहुत (पुव्वावाससया) सैकड़ों पूर्व वर्ष पर्यंत (उड्ढं) ऊंच (कप्पेसु) देवलोक में (देवकामाणं) देवताओं के सुख प्राप्त करने के लिए (अप्पिया) अर्पण कर दिये हैं

सदाचार रूप व्रत जिनके ऐसी आत्माएँ (जक्खा) देवता बन कर (चिट्ठंति) रहती हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! आत्मा अनेक प्रकार के सदाचारों का सेवन कर स्वर्ग में जाती है। तब वह वहाँ एक से एक देदीप्यमान् शरीरों को धारण करती है। और वहाँ दश हज़ार वर्ष से लेकर कई सागरोपम तक रहती हैं। वहाँ ऐसी आत्माएँ देव लोक के सुखों में ऐसी लीन हो जाती हैं, कि वहाँ से अब मानो वे कभी मरेंगी ही नहीं। इस तरह से वे मान बैठती हैं।

मूलः—जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥३०॥

छायाः—यथा कुशाग्रे उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात् ।
एवं मानुष्यकाः कामाः, देवकामानामन्तिके ३०

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूते ! (जहा) जैसे (कुसग्गे) घास के अग्रभाग पर की (उदगं) जलकी बूँद को (समुद्देण) समुद्र के (समं) साथ (मिणे) मिलान किया जाय तो क्या वह उसके बराबर हो सकती है ! नहीं (एवं) ऐसे ही (माणुस्सगा) मनुष्य संबंधी (कामा) काम भोगों के (अंतिए) समीप (देवकामाणं) देव संबंधी काम भोगों को समझना चाहिए।

भावार्थः हे गौतम ! जिस प्रकार घास के अग्रभाग

पर की जल की बूँद में और समुद्र की जलराशि में भारी अन्तर है ! अर्थात् कहाँ तो पानी की बूँद और कहाँ समुद्र की जल राशि ! इसी प्रकार मनुष्य संबंधी काम भोगों के सामने देव संबंधी काम भोगों को समझना चाहिए । सांसारिक सुख का परम प्रकर्ष बताने के लिए यह कथन किया गया है । आत्मिक विकास की दृष्टि से मनुष्य भव देवभव से श्रेष्ठ है ।

मूलः—तत्थ ठिच्चा जहाठाणं,
जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेंति माणुसं जोणिं,
से दसंगेऽभिजा[1] यई ॥ ३१ ॥

छायाः तत्र स्थित्वा यथास्थानं,
यक्षा आयुःक्षये च्युताः ।
उपयान्ति मानुषीं योनिं,
स दशांगोऽभिजायते ॥ ३१ ॥

(१) एक वचन होने से इसका आशय यह है, कि समृद्धि के दश अङ्ग अन्यत्र कहे हुए हैं । उनमें से देव लोक से चव कर मृत्यु-लोक में आने वाली कितनीक आत्माओं को तो समृद्धि के नौ ही अंग प्राप्त होते हैं । और किसी को आठ । इसी लिए एक वचन दिया है ।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) वहाँ देव लोक में (जक्खा) देवता (जहाठाणं) यथास्थान (ठिच्चा) रह कर (आउक्खए) आयुष्य के क्षय होने पर वहाँ से (चुया) चव कर (माणुसं) मनुष्य (जोणिं) योनि को (उवेंति) प्राप्त होता है । और जहां जाती है वहां (से) वह (दसंग) दस अङ्गवाला अर्थात् समृद्धिशाली (अभिजायई) होता है।

भावार्थः हे गौतम! यहाँ वो आत्माएँ शुभ कर्म करके स्वर्ग में जाती हैं, वहाँ वे अपनी आयुष्य को पूरा कर अव शेष पुण्यों से फिर वे मनुष्य-योनि को प्राप्त करती हैं। जिस में भी वह समृद्धिशाली होती है।

इस कथन का यह आशय नहीं समझना चाहिए कि देव गति के बाद मनुष्य ही होता है। देव तिर्यंच भी हो सकता है और मनुष्य भी. परन्तु यहाँ उत्कृष्ट आत्माओं का प्रकरण है इसी कारण मनुष्य गति की प्राप्ति कही गई है।

मूलः-खित्तं वत्थुं हिरण्णं च,
पसवो दासपोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि,
तत्थ से उववज्जइ ॥ २२ ॥

छाया:-क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च,
पशवो दासपौरुषम् ।
चत्वारः कामस्कन्धाः,
तत्र स उत्पद्यते ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (खित्तं) क्षेत्र ज़मीन (वत्थुं) घर वग़ैरह (च) और सोना चांदी (पसवो) गाय भैंस वग़ैरह (दास) नौकर (पोरुसं) कुटुम्बी जन, इस तरह से (चत्तारि) ये चार (कामखंधाणि) काम भोगों का समूह बहुतायत से है, (तत्थ) वहां पर (से) वह (उववज्जइ) उत्पन्न होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो आत्मा गृहस्थ का यथातथ्य धर्म तथा साधुव्रत पाल कर स्वर्ग में जाती है: वह वहां से चव कर ऐसे गृहस्थ के घर जन्म लेती है, कि जहां (१) खुली ज़मीन अर्थात् बाग़, वग़ैरह, खेत वग़ैरह (२) ढंकी ज़मीन अर्थात् मकानात वग़ैरह (३) पशु भी बहुत हैं। (४) और नौकर चाकर एवं कुटुम्बी जन भी बहुत हैं, इस प्रकार जो यह चार प्रकार के काम भोगों की सामग्री है उसे समृद्धि का प्रथम अङ्ग कहते हैं। इस अंग की जहां प्रचुरता होती है वहां स्वर्ग से आने वाली आत्मा जन्म लेती है। और साथ ही में जो आगे नौ अंग कहेंगे वे भी उसे वहां मिलते हैं।

मूलः-मित्तवं नाइवं होइ, उच्चगोए य वरणवं।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसोबले ॥२२॥

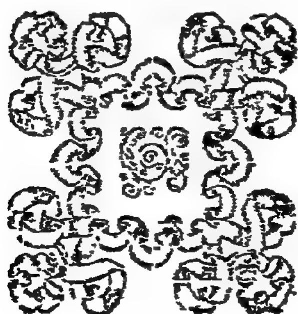
छायाः-मित्रवान् ज्ञातिवान् भवति, उच्चगोत्रो वर्णवान्।
अल्पातङ्को महाप्राज्ञः, अभिजातो यशस्वी बली २२

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! स्वर्ग से आने वाला जीव

(मित्तवं) मित्र वाला (नाइवं) कुटुम्ब वाला (उच्चगोए) उच्च गोत्र वाला (वरणवं) क्रांति वाला (अप्पायंके) अल्प व्याधि वाला (महापरणे) महान् बुद्धिवाला (अभिजाए) विनय वाला (जसो) यशवाला (य) और (वले) बल वाला (होइ) होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! स्वर्ग से आये हुए जीव को समृद्धि का अंग मिलने के साथ ही साथ (१) वह अनेकों मित्रों वाला होता है। (२) इसी तरह कुटुम्बी जन भी उसके बहुत होते हैं (३) इसी तरह वह उच्च गोत्र वाला होता है। (४) अल्प व्याधिवाला (५) रूपवान् (६) विनयवान् (७) यशस्वी (८) बुद्धिशाली एवं (९) बली, वह होता है।

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥



॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

(अध्याय अठारहवां)

मोक्ष स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—आणाणिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥१॥

छायाः-आज्ञानिर्देशकरः, गुरुणामुपपातकारकः ।
इंगिताकारसम्पन्नः, स विनीत इत्युच्यते ॥१॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आणाणिद्देसकरे) जो गुरु जन एवं बड़े बूढ़ों की न्याययुक्त बातों का पालन करने वाला हो, और (गुरुणं) गुरु जनों के (उववायकारए) समीप रहने वाला हो, और उन की (इंगियागारसंपन्ने) कुछेक भृकुटी आदि चेष्टाएँ एवं आकार को जानने में सम्पन्न हो (से) वही (विणीए) विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) कहा है ।

भावार्थ:-हे गौतम! मोक्ष के साधन रूप विनम्र भावों को धारण करने वाला विनीत है, जो कि अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों तथा आप्त पुरुषों की आज्ञा का यथायोग्य रूप से पालन करता हो, उन की सेवा में रह कर अपना अहोभाग्य समझता हो और उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति, सूचक भृकुटी आदि चेष्टाओं तथा मुखाकृति को जानने में जो कुशल हो, वह विनीत है। और इस के विपरीत जो अपना वर्ताव रखने वाला हो, अर्थात् बड़े बूढ़े गुरु जनों की आज्ञा का उल्लंघन करता हो, तथा उन की सेवा की जो उपेक्षा करें, वह अविनीत है या धृष्ट है।

मूल:-अणुसासिओ न कुप्पिज्जा,
खंतिं सेविज्ज पंडिए ।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं,
हासं कीडं च वज्जए ॥ २ ॥

छाया:-अनुशासितो न कुप्येत्,
क्षान्ति सेवेत पण्डितः ।
क्षुद्रैः, सह संसर्गं,
हास्यं क्रीडां च वर्जयेत् ॥ २ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (पंडिए) पंडित वही है, जो (अणुसासिओ) शिक्षा देने पर (न) नहीं (कुप्पिज्जा) क्रोध करे, और (खंतिं) क्षमा को (सेविज्ज) सेवन करता

रहे । (खुड्डेहिं) बाल अज्ञानियों के (सह) साथ (संसग्गिं) संसर्ग (हासं) हास्य (च) और (कीडं) क्रीड़ा को (वज्जए) त्यागे ।

भावार्थः-हे गौतम! पंडित वही है, जो कि शिक्षा देने पर क्रोध न करे। और क्षमा को अपना अंग बनाले। तथा दुराचारी और अज्ञानियों के साथ कभी भी हँसी ठट्ठा न करे, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

मूलः-आसणगओ ण पुच्छेज्जा,
णेव सेज्जागओ कयाइवि ।
आगम्मुक्कुडुओ संतो,
पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥२॥

छायाः-आसनगतो न पृच्छेत्,
नैव शय्यागतः कदापि च ।
आगम्य उत्कुटुकः सन्,
पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति गुरुजनों से (आसणगओ) आसन पर बैठे हुए कोई भी प्रश्न (ण) नहीं (पुच्छेज्जा) पूछना और (कयाइवि) कदापि (सेज्जागओ) शय्या पर बैठे हुए भी (ण) नहीं पूछना, हाँ (आगम्मुक्कुडुओ) गुरुजनों के पास आकर उकडू आसन से (संतो) बैठकर (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (पुच्छिज्जा) पूछना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम! अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों को कोई भी बात पूछना हो तो आसन पर बैठे हुए या शयन करने के बिछौने पर बैठे ही बैठे कभी नहीं पूछना चाहिए। क्योंकि इस तरह पूछने से गुरु जनों का अपमान होता है। और ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होती है। अतः उनके पास जा कर उकडूं आसन * से बैठ कर हाथ जोड़कर प्रत्येक बात को गुरु से पूछे।

मूलः-जं मे बुद्धाणुसासंति,
सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए,
पयओ तं पडिस्सुणे ॥ ४ ॥

छायाः-यन्मां बुद्धा अनुशासन्ति,
शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य,
प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (बुद्धा) बड़े बूढ़े गुरु जन (जं) जो शिक्षा दें, उस समय यों विचार करना चाहिए, कि (मे) मुझे (सीएण) शीतल (व) अथवा (फरुसेण) कठोर शब्दों से (अणुसासंति) शिक्षा देते हैं। यह (मम)

* Sitting on kneels

मेरा (लाभो) लाभ है (ति) ऐसा (पेहाए) समझ कर षट् कायों की रक्षा के लिए (पयओ) प्रयत्न करनेवाला महानुभाव (तं) उस बात को (पडिस्सुणे) श्रवण करे।

भावार्थः-हे गौतम ! बड़े बूढ़े व गुरु जन मधुर या कठोर शब्दों में शिक्षा दें, उस समय अपने को यों विचार करना चाहिए, कि जो यह शिक्षा दी जा रही है, वह मेरे लौकिक और पारलौकिक सुख के लिए है। अतः उन की अमूल्य शिक्षाओं को प्रसन्न चित्त से श्रवण करते हुए अपना अहोभाग्य समझना चाहिए।

मूलः-हियं विगयभया बुद्धा,
फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं,
खंतिसोहिकरं पयं ॥ ५ ॥

छायाः-हितं विगतभया बुद्धाः,
परुषमप्यनु शासनम्।
द्वेषं भवति मूढानां,
क्षान्ति शुद्धिकरं पदम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (विगयभया) चला गया हो भय जिससे ऐसा (बुद्धा) तत्वज्ञ, विनयशील अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों की (फरुसं) कठोर (अणुसासणं)

शिक्षा को (पि) भी (हियं) हितकारी समझता है, और (मूढाणं) मूर्ख, "अविनीत" (खंतिसोहिकरं) क्षमा उत्पन्न करने वाला, तथा आत्म शुद्धि करने वाला, ऐसा जो (पय) ज्ञान रूप पद (तं) उसको श्रवण कर (वेसं) द्वेष युत (होइ) हो जाता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसको किसी प्रकार की चिन्ता भय नहीं है, ऐसा जो तत्त्वज्ञ, विनयवान् महानुभाव अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों की अमूल्य शिक्षाओं को कठोर शब्दों में भी श्रवण करके उन्हें अपना परम हितकारी समझता है। और जो अविनीत मूर्ख होते हैं, वे उनकी हितकारी और श्रवणसुखद शिक्षाओं को सुन कर द्वेषानल में जल मरते हैं।

मूलः-अभिक्खणं कोही हवइ,
पबंधं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ,
सुयं लद्धूण मज्जई ॥ ६ ॥
अवि पावपरिक्खेवी,
अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स,
रहे भासइ पावगं ॥ ७ ॥
पइण्णवाई दुहिले,
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।

असंविभागी अवियत्ते,
अविणीए त्तिवुच्चई ॥ ८ ॥

छायाः–अभीक्ष्णं क्रोधी भवति,
प्रबन्धं च प्रकरोति ।
मैत्रीयमाणो वमति,
श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥ ६ ॥
अपि पापपरिक्षेपी,
अपि मित्रेभ्यः कुप्यति ।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य,
रहसि भाषते पापकम् ॥ ७ ॥
प्रकीर्णवादी द्रोहशीलः,
स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः ।
असंविभाग्यप्रीतिकरः,
अविनयीतत्युच्यते ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अभिक्खणं) बार बार (कोही) क्रोध युत् (हवइ) होता हो (च) और सदैव (पबंधं) कलहोत्पादक ही कथा (पकुव्वई) करता हो (मेत्तिज्जमाणो) मैत्रीभाव को (वमइ) वमन करे (सुयं) श्रुत ज्ञान को (लद्धूण) पाकर (मज्जई) मंद करे (पावपरिक्खेवी) बड़े बूढ़े व गुरु जनों की न कुछ भूल को भी निंदा रूप में करता (अवि) ही रहे (मित्तेसु) मित्रों

पर (अवि) भी (कुप्पइ) क्रोध करता रहे (सुप्पियस्स) सुप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (अवि) भी (रहे) परोक्ष रूप में उसके (पावगं) पाप दोष (भासइ) कहता हो । (पइण्णवाई) संबंध रहित बहुत बोलने वाला हो, (दुहिले) द्रोही हो (थद्धे) घमण्डी हो । (लुद्धे) रसादिक स्वाद में लिप्त हो (अणिग्गहे) अनिग्रहीत इन्द्रियों वाला हो (असंविभागी) किसी को कुछ नहीं देता हो (अवियत्ते) पूछने पर भी अस्पष्ट बोलता हो, वह (अविणीए) अविनीत है । (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) ज्ञानी जन कहते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! जो सदैव क्रोध करता है, जो कलहोत्पादक बातें ही नयी-नयी घड़ कर सदा कहता रहता है, जिस का हृदय मैत्री भावों से विहीन हो, ज्ञान सम्पादन करके जो उस के गर्व में चूर रहता हो, अपने बड़े बूढे व गुरु जनों की न कुछ सी भूलों को भी भयंकर रूप जो देता हो, अपने प्रगाढ़ मित्रों पर भी क्रोध करने से जो कभी न चूकता हो, घनिष्ट मित्रों का भी उनके परोक्ष में दोष प्रकट करता रहता हो, वाक्य या कथा का संबंध न मिलने पर भी जो वाचाल की भाँति बहुत अधिक बोलता हो, प्रत्येक के साथ द्रोह किये बिना जिसे चैन ही नहीं पड़ता हो, गर्व करने में भी जो कुछ कोर कसर नहीं रखता हो, रसादिक पदार्थों के स्वाद में सदैव आसक्त रहता हो, इन्द्रियों के द्वारा जो पराजित होता रहता हो, जो स्वयं पेटू हो, और दूसरों को एक कौर भी कभी नहीं देता हो और पूछने पर भी जो सदा अनजान की ही भाँति बोलता हो, ऐसा जो पुरुष है, वह फिर चाहे जिस जाति, कुल व कौम का क्यों न हो, अविनीत है, अर्था

अविनय शील है। उसकी इस लोक में तो प्रशंसा होगी ही क्यों? परन्तु परलोक में भी वह अधोगामी बनेगा।

मूलः- अह पण्णरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥९॥

छायाः-अथ पञ्च दशभिः स्थानैः, सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवृत्यचपलः, अमाय्यकुतूहलः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अह) अब (पण्णरसहिं) पंद्रह (ठाणेहिं) स्थानो (सुविणीए) बातों से अच्छा विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) ज्ञानी जन कहते हैं। और वे पन्द्रह स्थान यों है।(नीयावित्ती)नम्र हो, बड़े बूढ़े व गुरुजनों के आसन से नीचे बैठने वाला हो, (अचवले) चपलता रहित हो (अमाई) निष्कपट हो (अकुऊहले) कुतूहल रहित हो।

भावार्थः-हे गौतम! पन्द्रह कारणों से मनुष्य विनम्र शीलवान् या विनीत कहलाता है:-वे पन्द्रह कारण यों हैं (१) अपने बड़े बूढ़े व गुरु जनों के साथ नम्रता से जो बोलता हो, (२) उनसे नीचे आसन पर बैठता हो, पूछने पर हाथ जोड़ कर बोलता हो; बोलने चलने, बैठने आदि में जो चपलता न दिखाता हो (३) सदैव निष्कपट भाव से जो वर्ताव करता हो (४) खेल, तमाशे, आदि कौतुकों के देखने में उत्सुक न हो।

मूलः-अप्पं चाहिक्खिवई,
　　पबंधं च न कुव्वई ।
　मेत्तिज्जमाणो भयई,
　　सुयं लद्धुं न मज्जई ॥ १० ॥
　न य पावपरिक्खेवी,
　　न य मित्तेसु कुप्पई ।
　अप्पियस्सावि मित्तस्स,
　　रहे कल्लाण भासई ॥ ११ ॥
　कलहडमरवज्जए,
　　वुद्धे अभिजाइए ।
　हिरिमं पडिसंलीणे,
　　सुवणीए त्ति वुच्चई ॥ १२ ॥

छायाः-अल्पं च आधिक्षिपति,
　　प्रबन्धं च न करोति ।
　मैत्रीपमाणो भजते,
　　श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥ १० ॥
　न च पापपरिक्षेपी,
　　न च मित्रेषु कुप्यति ।

अप्रियस्यापि मित्रस्य,
रहसि कल्याणं भाषते ॥ ११ ॥
कलहडमरवर्जकः,
बुद्धोऽभिजातकः ।
ह्रीमान् प्रतिसंलीनः,
सुविनीत इत्युच्यते ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अहिक्खिवई) बड़े बूढ़े तथा गुरु जन आदि किसी का भी जो तिरस्कार न करता हो (च) और (पबंधं) कलहोत्पादक कथा (न) नहीं (कुव्वई) करता हो, (मेत्तिज्जमाणो) मित्रता को (भयई) निभाता हो, (सुयं) श्रुत ज्ञान को (लद्धुं) पा करके जो (न) नहीं (मज्जई) मद करता हो (य) और (न) नहीं करता हो (पावपरिक्खेवी) बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों की कुछेक भूल को (य) और (मित्तेसु) मित्रों पर (न) नहीं (कुप्पई) क्रोध करता हो (अप्पियस्स) अप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (रहे) परोक्ष में (अवि) भी, उस के (कल्लाण) गुणानुवाद (भासई) बोलता हो, (कलहडमरवज्जए) वाक्युद्ध और काया युद्ध दोनों से अलग रहता हो, (बुद्धे) वह तत्वज्ञ फिर (अभिजाइए) कुलीनता के गुणों से युक्त हो, (हिरिमं) लज्जावान् हो, (पडिसंलीणे) इन्द्रियों पर विजय पाया हुआ हो, वह (सुविणीए) विनीत है। (त्ति) ऐसा ज्ञानी जन (वुच्चई) कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! फिर तत्वज्ञ महानुभाव (५)

अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों का कभी भी तिरस्कार नहीं करता हो (६) टण्टे फसाद की बातें न करता हो (७) उपकार करने वाले मित्र के साथ बने वहां तक पीछा उपकार ही करता हो, यदि उपकार करने की शक्ति न हो तो अपकार से तो सदा सर्वदा दूर ही रहता हो (८) ज्ञान पा कर घमण्ड न करता हो (९) अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों की कुछेक भूल को भयंकर रूप न देता हो (१०) अपने मित्र पर कभी भी क्रोध न करता हो (११) परोक्ष में भी अप्रिय मित्र का अवगुणों के बजाय गुणगान ही करता हो (१२) वाक् युद्ध और काया युद्ध दोनों से जो कतई दूर रहता हो, (१३) कुलीनता के गुणों से सम्पन्न हो (१४) लज्जावान् अर्थात् अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों के समक्ष नेत्रों में सरम रखने वाला हो (१५) और जिसने इन्द्रियों पर पूर्ण साम्राज्य प्राप्त कर लिया हो, वही विनीत है। ऐसे ही की इस लोक में प्रशंसा होती है। और परलोक में उन्हें शुभ गति मिलती है।

मूलः—जहा हिअग्गी जलणं नमंसे,
नाणाहुई मंतपयाभिसत्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥१३॥

छायाः—यथाहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति,
नानाऽऽहुतिमंत्रपदाभिषिक्तम् ।

एवमाचार्यमुपतिष्ठेत्,
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आहिअग्गी) अग्नि होत्री ब्राह्मण (जलणं) अग्नि को (नमंसे) नमस्कार करते हैं। तथा (णाणाहुईमंतपयाभिसत्तं) नाना प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति और मंत्र पदों से उसे सिंचित करते हैं (एवायरियं) इसी तरह से बड़े बूढ़े व गुरु जन और आचार्य की (अणंतनाणोवगओसंतो) अनंत ज्ञान युत होने पर (वि) भी (उवचिट्ठइज्जा) सेवा करनी ही चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि को नमस्कार करते हैं, और उस को अनेक प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति एवं मंत्र पदों से सिंचित करते हैं इसी तरह पुत्र और शिष्यों का कर्त्तव्य और धर्म है कि चाहे वे अनंत ज्ञानी भी क्यों न हो उन को अपने बड़े बूढ़े और गुरु जनों एवं आचार्य की सेवा शुश्रूषा करनी ही चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे ही सचमुच में विनीत हैं।

मूलः-आयरियं कुवियं णच्चा,
पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो,
वइज्ज ण पुणुत्ति य ॥ १४ ॥

छायाः-आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा,
प्रीत्या प्रसादयेत् ।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः,
वदेन्न पुनरिति च ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आयरियं) आचार्य को (कुवियं) कुपित (णच्चा) जान कर (पत्तिएण) प्रीति कारक शब्दों से फिर (पसायए) प्रसन्न करे (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (विज्झवेज्ज) शान्त करे (य) और (णपुणत्ति) फिर ऐसा अविनय नहीं करूँगा ऐसा (वइज्ज) बोले ।

भावार्थः-हे गौतम ! बड़े बूढ़े गुरु जन एवं आचार्य अपने पुत्र शिष्यादि के अविनय से कुपित हो उठें तो

(१) कई जगह "णच्चा" की जगह (नच्चा) भी मूल पाठ में आता है । ये दोनों शुद्ध हैं । क्योंकि प्राकृत में नियम है, कि "नो णः" नकार का णकार होता है । पर शब्द के आदि में हो तो वहां 'वा आदौ' इस सूत्र से नकार का णकार विकल्प से हो जाता है । अर्थात् नकार या णकार दोनों में से कोई भी एक हो ।

प्रीति कारक शब्दों के द्वारा पुनः उन्हें प्रसन्न चित्त करे, हाथ जोड़ जोड़ कर उनके क्रोध को शान्त करे, और यों कह कर कि "इस प्रकार" का अविनय या अपराध आगे से मैं कभी नहीं करूंगा, अपने अपराध की क्षमा याचना करे ।

मूलः-णच्चा णमइ मेहावी,
लोए कित्ती से जायइ ।
हवइ किच्चाण सरणं,
भूयाणं जगई जहा ॥ १५ ॥

छायाः-ज्ञात्वा नमति मेधावी,
लोके कीर्त्तिस्तस्य जायते ।
भवति कृत्यानां शरणं,
भूतानां जगती यथा ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! इस प्रकार विनय की महत्ता को (णच्चा) जान कर (मेहावी) बुद्धिमान् मनुष्य (णमइ) विनयशील हो, जिस से (से) वह (लोए) इस लोक में (कित्ती) कीर्ति का पात्र (जायइ) होता है (जहा) जैसे (भूयाणं) प्राणियों को (जगई) पृथ्वी आश्रय भूत है, ऐसे ही विनीत महानुभाव(किच्चाण)पुण्य क्रियाओं का (सरणं) आश्रय रूप (हवइ) होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार विनय की महत्ता को

समझ कर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इस विनय को अपना परम सहचर सखा बनाले । जिससे वह इस संसार में प्रशंसा का पात्र हो जाय । जिस प्रकार वह पृथ्वी सभी प्राणियों को आश्रय रूप है, ऐसे ही विनयशील मानव भी सदाचार रूप अनुष्ठान का आश्रय रूप है । अर्थात् कृत कर्मों के लिए खदान रूप है ।

मूलः—स देवगंधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ १६ ॥

छायाः-स देवगन्धर्व मनुष्य पूजितः,
त्यक्त्वा देहं मलपङ्क पूर्वकम् ।
सिद्धो भवति शाश्वतः,
देवो वापि महर्द्धिकः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति (देवगंधव्वमणुस्सपूइए) देव, गंधर्व और मनुष्य से पूजित (स) वह विनय शील मनुष्य (मलपंकपुव्वयं) रुधिर और वीर्य से बनने वाले (देहं) मानव शरीर को (चइत्तु) छोड़ करके (सासए) शाश्वत (सिद्ध वा) सिद्ध (हवइ) होता है (वा) अथवा (अप्परए) अल्प कर्म वाला (महिड्ढिए) महा ऋद्धिवंता (देवे) देवता होता है ।

भावार्थः–हे गौतम! देव, गंधर्व, और मनुष्यों के द्वारा पूजित ऐसा वह विनीत मनुष्य रुधिर और वीर्य से बने हुए इस शरीर को छोड़ कर शास्वत सुखों को सम्पादन कर लेता है। अथवा अल्प कर्म वाले महा ऋद्धिवंता देवों की श्रेणी में जन्म धारण करता है। ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है।

मूलः–अत्थि एगं धुवं ठाणं,
लोगग्गंम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू,
वाहिणो वेयणा तहा॥ १७॥

छायाः-अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं,
लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरामृत्यू,
व्याधयो वेदनास्तथा॥ १७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (लोगग्गस्मि) लोक के अग्र भाग पर (दुरारुहं) कठिनता से चढ़ सकें ऐसा (एगं) एक (धुवं) निश्चल (ठाणं) स्थान (अत्थि) है। (जत्थ) जहाँ पर (जरामच्चू) जरामृत्यु (वाहिणो) व्याधियों (तहा) तथा (वयणा) वेदना (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः–हे गौतम! कठिनता से जा सके, ऐसा एक निश्चल, लोक के अग्र भाग पर, स्थान है। जहाँ पर न वृद्धा-

वस्था का दुख है और न व्याधियों ही की लेन देन है। तथा शारीरिक व मानसिक वेदनाओं का भी वहाँ नाम नहीं है।

मूलः-निव्वाणं ति अबाहं ति,
सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवमणा बाहं,
जं चरंति महेसिणो ॥ १८ ॥

छायाः-निर्वाणमित्यबाधमिति,
सिद्धिर्लोकाग्रमेव च ।
क्षेमं शिवमनाबाधं,
यच्चरन्ति महर्षयः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! वह स्थान (निव्वाणंति) निर्वाण (अबाहं ति) अबाध (सिद्धी) सिद्धि (य) और (एव) ऐसे ही (लोगग्गं) लोकाग्र (खेमं) क्षेम (सिवं) शिव (अणाबाह) अनाबाध, इन शब्दों से भी पुकारा जाता है। ऐसे (जं) उस स्थान को (महेसिणो) महर्षि लोग (चरंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! उस स्थान को निर्वाण भी कहते हैं, क्योंकि वहाँ आत्मा के सर्व प्रकार के संतापों का एकदम अभाव रहता है। अबाधा भी उसी स्थान का नाम है, क्यों कि वहाँ आत्मा को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती है।

उसको सिद्धि भी कहते हैं; क्योंकि आत्मा ने अपना इच्छित कार्य सिद्ध कर लिया है। और लोक के अग्र भाग पर होने से लोकाग्र भी उसी स्थान को कहते है। फिर उसका नाम क्षेम भी है, क्योंकि वहाँ आत्मा को शाश्वत सुख मिलता है। उसी को शिव भी कहते हैं, क्योंकि आत्मा निरूपद्रव होकर सुख भोगती रहती है। इसी तरह उसको अनाबाध * भी कहते हैं क्योंकि वहाँ गयी हुई आत्मा स्वाभाविक सुखों का उपभोग करती रहती है, किसी भी तरह की बाधा उसे वहाँ नहीं होती। इस प्रकार के उस स्थान को संयमी जीवन के बिताने वाली आत्माएँ शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करती हैं।

मूलः-नाणं च दंसणं चेव,
चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता,
जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ १६ ॥

छायाः-ज्ञानं च दर्शनं चैव,
चरित्रं च तपस्तथा।
एतन्मार्गमनुप्राप्ताः,
जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (नाणं) ज्ञान (च) और

* Natural happiness

(दंसणं) श्रद्धान (चेव) और इसी तरह (चरित्तं) चारित्र (च) और (तहा) वैसे ही (तवो) तप (एयं) इन चार प्रकार के (मग्गं) मार्ग को (अणुप्पत्ता) प्राप्त होने पर (जीवा) जीव (सोग्गइं) मुक्ति गति को (गच्छंति) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः हे गौतम ! इस प्रकार के मोक्ष स्थान में वही जीव पहुँच पाता है, जिसे सम्यक् ज्ञान है, वीतरागों के वचनों पर जिसे श्रद्धा है, जो चारित्रवान् है और तप में जिसकी प्रवृत्ति है । इस तरह इन चारों मार्गों को यथा विधि जो पालन करता रहता है। फिर उसके लिए मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है । क्योंकि:—

मूलः—नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हइ, तवेण परिसुज्झई ॥२०॥

छायाः-ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते ।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परि शुद्ध्यति ।२०।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नाणेण) ज्ञान से (भावे) जीवादिक तत्त्वों को (जाणई) जानता है (य) और (दंसणेण) दर्शन से उन तत्त्वों को (सद्दहे) श्रद्धता है। (चरित्तेण) चारित्र से नवीन पाप (निगिण्हइ) रुकता है । और (तवेण) तपस्या करके (परिसुज्झई) पूर्व संचित को क्षय कर डालता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! सम्यक् ज्ञान के द्वारा जीव तात्त्विक पदार्थों को भली भांति जान लेता है। दर्शन के द्वारा उसकी उन में श्रद्धा हो जाती है। चारित्र अर्थात् सदाचार से भावी नवीन कर्मों को वह रोक लेता है। और तपस्या के द्वारा करोड़ों भवों के पापों को वह क्षय कर डालता है।

मूलः-नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अरणाण मोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥२१॥

छायाः-ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया,
अज्ञानमोहस्य विवर्जनया ।
रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेण,
एकान्तसौख्यं समुपैति मोक्षम् २१॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! आत्मा (सव्वस्स) सर्व (नाणस्स) ज्ञान के (पगासणाए) प्रकाशित होने से (अरणाणमोहस्स) अज्ञान और मोह के (विवज्जणाए) छूट जाने से (य) और (रागस्स) राग (दोसस्स) द्वेष के (संखएणं) क्षय हो जाने से (एगंतसोक्खं) एकान्त सुख रूप (मोक्खं) मोक्ष की (समुवेइ) प्राप्ति करता है।

भावार्थः-हे गौतम ! सम्यक् ज्ञान के प्रकाशन से,

अज्ञान, अश्रद्धान के छूट जाने से और राग द्वेष के समूल नष्ट हो जाने से, एकान्त सुख रूप जो मोक्ष है, उसकी प्राप्ति होती है।

मूलः—सव्वं तओ जाणइ पासए य,
　　　　अमोहणे होइ निरंतराए ।
　　अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
　　　　आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥२२॥

छायाः—सर्वं ततो जानाति पश्यति च,
　　　　अमोहनो भवति निरन्तरायः ।
　　अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्तः,
　　　　आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (तओ) सम्पूर्ण ज्ञान के हो जाने के पश्चात् (सव्वं) सर्व जगत् को (जाणइ) जान लेता है। (य) और (पासए) देख लेता है। फिर (अमोहणे) मोह रहित और (अणासवे) आश्रव रहित (होइ) होता है। (झाणसमाहिजुत्ते) शुक्ल ध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह (आउक्खए) आयुष्य क्षय होने पर (सुद्धे) निर्मल (मोक्खं) मोक्ष को (उवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम! शुक्ल ध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह जीव मोह और अन्तराय रहित हो जाता है।

तथा वह सर्व लोक को जान लेता है और देख लेता है। अर्थात् शुक्ल ध्यान के द्वारा जीव चार घनघातिया कर्मों का नाश करके इन चार गुणों को पाता है। तदनन्तर आयु आदि चार अघातिया कर्मों का नाश हो जाने पर वह निर्मल मोक्ष स्थान को पा लेता है।

मूलः-सुक्कमूले जहा रुक्खे,
सिच्चमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा ण रोहंति,
मोहणिज्जे खयंगए ॥ २३ ॥

छायाः-शुष्कमूलो यथा वृक्षः,
सिच्यमानो न रोहति।
एवं कर्माणि न रोहन्ति,
मोहनीये क्षयंगते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (सुक्क मूले) सूख गया है मूल जिसका ऐसा (रुक्खे) वृक्ष, (सिच्चमाणे) सींचने पर (ण) नहीं (रोहति) लहलहाता है (एवं) उसी प्रकार (मोहणिज्जे) मोहनीय कर्म (खयंगए) क्षय हो जाने पर पुनः (कम्मा) कर्म (ण) नहीं (रोहंति) उत्पन्न होता है।

भावार्थः-हे गौतम! जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो

उसे पानी से सींचने पर भी वह लहलहाता नहीं है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। क्योंकि, जब कारण ही नष्ट हो गया, तो फिर कार्य कैसे हो सकता है ?

मूलः-जहा दड्ढाणं वीयाणं,
ण जायंति पुणंकुरा।
कम्म वीएसु दड्ढेसु,
न जायंति भवंकुरा ॥ २४ ॥

छायाः-यथा दग्धानामङ्कुराणाम्,
न जायन्ते पुनरंकुराः।
कर्म बीजेषु दग्धेषु,
न जायन्ते भवांकुराः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (दड्ढाणं) दग्ध (वीयाणं) बीजों के (पुणंकुरा) फिर अंकुर (ण) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार (दड्ढेसु) दग्ध (कम्मवीएसु) कर्म बीजों में से (भवंकुरा) भव रूपी अंकुर (न) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार जले भूंजे बीजों को बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार जिसके कर्म

रूपी बीज नष्ट हो गये हैं, सम्पूर्ण क्षय हो गये हैं, उस अवस्था में उस के भव रूपी अंकुर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं। यही कारण है कि मुक्तात्मा फिर कभी मुक्ति से लौटकर संसार में नहीं आते।

॥ श्रीगौतमउवाच ॥

मूलः-कहिं पडिहया सिद्धा,
कहिं सिद्धा पइट्ठिया।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं[1],
कत्थ गंतूण सिज्झई ॥ २५ ॥

छायाः-क्व प्रतिहताः सिद्धाः,
क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः।
क्व शरीरं त्यक्त्वा,
कुत्र गत्वा सिद्ध्यन्तिः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः-हे प्रभो! (सिद्धा) सिद्ध जीव (कहिं) कहां पर (पडिहया) प्रतिहत हुए हैं? (कहिं) कहां पर (सिद्धा) सिद्ध जीव (पईट्ठिया) रहे हुए हैं? (कहिं) कहां पर (बोंदिं) शरीर को (चइत्ता) छोड़ कर (कत्थ) कहां पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध होते हैं?

(१) णं वाक्यालंकार।

भावार्थ:-हे प्रभो ! जो आत्माएँ, मुक्ति में गयी हैं, वे कहां तो प्रतिहत हुई हैं ? कहां ठहरी हुई हैं ? मानव शरीर कहां पर छोड़ा है ? और कहां जा कर वे आत्माएँ सिद्ध होती हैं ?

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-अलोए पडिहया सिद्धा,
लोयग्गे अ पइट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ता णं
तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ २६ ॥

छायाः-अलोके प्रतिहताः सिद्धाः,
लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः ।
इह शरीरं त्यक्त्वा,
तत्र गत्वा सिद्ध्यन्ति ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सिद्धा) सिद्ध आत्माएँ (अलोए) अलोक में तो (पडिहया) प्रतिहत हुई हैं । (अ) और (लोयग्गे) लोकाग्र पर (पइट्ठिया) ठहरी हुई हैं । (इहं) इस लोक में (बोंदिं) शरीर को (चइत्ता) छोड़कर (तत्थ) लोक के अग्रभाग पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध हुई हैं ।

(१) णं वाक्यालंकार ।

भावार्थः-हे गौतम! जो आत्माएँ सम्पूर्ण-शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होती हैं, वे फिर शीघ्र ही स्वाभाविकता से ऊर्ध्व लोक को गमन कर अलोक से प्रतिहत होती हैं। अर्थात् अलोक में गमन करने में सहायक वस्तु धर्मास्तिकाय* होने से लोकाग्र में ही गति रुक जाती है। तब वे सिद्ध आत्माएँ लोक के अग्रभाग पर ठहरी रहती हैं। वे आत्माएँ इस मानव शरीर को यहीं छोड़ कर लोकाग्र पर सिद्धात्मा होती हैं।

मूलः-अरूविणो जीवघणा,
नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहसंपन्ना,
उवमा जस्स नत्थि उ ॥ २७ ॥

छाया:-अरूपिणो जीवघनाः,
ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः।
अतुलं सुखं सम्पन्नाः,
उपमा यस्य नास्ति तु ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः-हे गौतम! (अरूविणो) सिद्धात्मा अरूपी हैं। और (जीवघणा) वे जीव घन रूप हैं। (नाण-

---

* A substance, which is the medium of motion to soul and matter, and which contains innumerable atoms of space, pervades the whole universe and has no fulcrum of motion.

दंसणसन्निया) जिन की केवल ज्ञान दर्शन रूप ही संज्ञा है। (अउलं) अतुल (सुहसंपन्ना) सुखों से युक्त हैं (जस्स उ) जिस की तो (उवमा) उपमा भी (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो आत्मा सिद्धात्मा के रूप में होती हैं, वे अरूपी हैं, उन के आत्म-प्रदेश घन रूप में होते हैं। ज्ञान दर्शन रूप ही जिन की केवल संज्ञा होती है और वे सिद्धात्माएँ अतुल सुख से युक्त रहती हैं। उन के सुखों की उपमा भी नहीं दी जा सकती है।

॥ श्री सुधर्मोवाच ॥

मूलः-एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी,
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा णायपुत्ते भयवं,
वेसालिए विआहिए त्ति बेमि ॥२८॥

छायाः-एवं स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी,
अनुत्तर ज्ञानदर्शनधरः ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः भगवान् ,
वैशालिको विख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः-हे जम्बू ! (अणुत्तरनाणी) प्रधान ज्ञान (अणुत्तरदंसी) प्रधान दर्शन अर्थात् (अणुत्तरनाणदंस-

णाधरे) प्रधान ज्ञान और दर्शन उसके धारक, और (वियाहिए) सत्योपदेशक (से) उन निर्ग्रंथ (णायपुत्ते) सिद्धार्थ के पुत्र (वेसालिए) त्रिशला के अंगज (अरहा) अरिहंत (भयवं) भगवान् ने (एवं) इस प्रकार (उदाहु) कहा है। (त्ति बेमि) इस प्रकार सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी प्रति कहा है।

भावार्थः-हे जम्बू! प्रधान ज्ञान और प्रधान दर्शन के धारी, सत्योपदेश करने वाले, प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल के सिद्धार्थ राजा के पुत्र और त्रिशला रानी के अंगज, निर्ग्रन्थ, अरिहंत भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा है, ऐसा सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रति निर्ग्रन्थ के प्रवचन को समझाया है।

॥ इति अष्टादशोऽध्यायः ॥



निर्ग्रंथ प्रवचन

पर

प्रमुख विद्वानों की सम्मतियाँ

(१)

श्रीमान् ला० कन्नोमलजी एम० ए० सेशन जज धौलपुर।

ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है। साधु तथा गृहस्थ दोनों के काम की चीज़ है। इसका स्थान सभी के घरों में होना चाहिए। विशेषतः पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में इसका प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है।

(२)

श्रीयुत पं० रामप्रतापजी शास्त्री,

भू० पू० प्रोफ़ेसर, पाली संस्कृत मोरिस कालेज,

नागपुर (सी. पी.)

इस के द्वारा जैन साहित्य में एक मूल्यवान संकलन हुआ है। यह केवल जैन दर्शन के इच्छुक विद्वानों को ही नहीं बल्कि जैन साहित्य में रुचि रखने वाले सभी सज्जनों के लिए अति उपयोगी वस्तु है।

(३)

श्रीमान् प्रो. सरस्वती प्रसादजी चतुर्वेदी एम. ए.

व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ मोरिस कालेज

नागपुर (सी. पी.)

इस ग्रन्थ रत्न की सूक्तियों का मनन समस्त मानव-समाज के लिए हितकर है। क्योंकि ये सूक्तियाँ किसी एक मत या सम्प्रदाय विशेष की न होकर विश्वजनीन हैं।

(४)

श्रीमान् प्रो. श्यामसुन्दरलालजी चोरड़िया एम. ए.

मोरिस कॉलेज, (नागपुर)

श्री मुनि महाराज जी का किया हुआ अनुवाद अत्यंत सरल, स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है।"

(५)

श्रीयुत् वी. वी. मिराशी, प्रोफेसर संस्कृत विभाग,

मोरिस कालेज, (नागपुर)

यह पुस्तिका जैन साहित्य की धार्मिक और दार्शनिक सर्वोत्तम गाथाओं का संग्रह है।

(६)

श्रीमान् गोपाल केशव गर्दे एम. ए.

भूतपूर्व प्रो. नागपुर.

इसी प्रकार से सात आठ अर्धमागधी के ग्रन्थ छपवाए जांय तो इस भाषा (प्राकृत) का भी परिचय सरल संस्कृत की नांई बहुजन समुदाय को अवश्य हो जायगा।

(७)

श्रीमान प्रो. हीरालालजी जैन एम. ए. एल. एल. बी.,
किङ्ग एडवर्ड कालेज, अमरावती (बरार)

" इस पुस्तक का अवलोकन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पुस्तक प्रायः शुद्धता पूर्वक छपी है। और चित्ताकर्षक है। × × × साहित्य और इतिहास प्रेमियों को इस से बड़ी सुविधा और सहायता मिलेगी। "

(८)

श्रीमान् महामहोपाध्याय रायबहादुर पं. गौरीशंकर
हीराचंदजी ओझा, अजमेर.

यह पुस्तक केवल जैनों के लिए ही नहीं किन्तु जैनेतर गृहस्थों के लिए भी परमोपयोगी है।

(९)

श्रीमान् ला. बनारसीदासजी एम. ए. पी. एच. डी.
ओरियन्टल कॉलेज, लाहोर.

स्वामी चौथमलजी महाराज ने निर्ग्रन्थ प्रवचन रच कर न केवल जैन समाज पर किन्तु समस्त हिन्दी संसार पर उपकार किया है। ऐसे ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता थी।

(१०)

श्रीयुत् प्रो. के. एन. अभ्यंकर एम. ए.
गुजरात कॉलेज, अहमदाबाद।

विश्वविद्यालयों में, विद्वानों और विद्यार्थियों के हाथों में

रक्खी जाने योग्य है। विश्वविद्यालय के पाठ्य ग्रन्थों में चुनाव के समय में इस ग्रन्थ के लिये अपनी ओर से सिफारिश करूंगा।"

(११)

श्रीमान् अजितसेनजी जैन सम्पादक "देशभक्त" मेरठ

यह पुस्तक प्रत्येक जैन घराने में पढ़ी जाने योग्य है।

(१२)

श्रीमान् प्रोफेसर हीरालालजी रसिकदासजी कापड़िया एम. ए. बम्बई

आवुं सर्वोपयोगी पुस्तक छपाववा बद्दल संग्राहक अने प्रकाशक ने अभिनन्दन घटे छे।

(१३)

श्रीमान् पं. लालचन्दजी भगवानदासजी गांधी गायकवाड़ लायब्रेरी, बड़ोदा।

प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री चौथमलजी महाराज का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है।

(१४)

श्रीमान् नन्दलालजी केदारनाथजी दिक्षित बी. ए. एम. सी. पी., भूतपूर्व विद्याधिकारी, बड़ौदा।

निर्ग्रंथप्रवचन का पठन पाठन से जनता भारी लाभ उठा सकती है। ऐसा सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित कर के आपने जैन और जैनेतर मनुष्यों पर भारी उपकार किया है।

(१५)

श्रीयुत गोविन्दलाल भट्ट एम. सी. प्रोफसर संस्कृत, बड़ोदा कॉलेज, बड़ोदा।

यह संग्रह अत्यन्त उपयोगी और कंठस्थ करने योग्य है।"

(१६)

श्रीयुत प्रोफेसर भावे, बड़ोदा कॉलेज, बड़ोदा।

यह पुस्तक जैन धर्म का अध्ययन करने वाले अथवा रूचि रखने वाले महानुभावों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

(१७)

श्रीमान् पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा।

आगम-ग्रन्थों पर से अच्छे उपयोगी पद्यों को चुन कर ऐसे संग्रहों के तैयार करने की निःसन्देह जरूरत है इस के लिये मुनिश्री चौथमलजी का यह उद्योग और परिश्रम प्रशंसनीय है।

(१८)

श्रीमान् पं० प्यारेकिसनजी साहेब कौल भूतपूर्व दीवान सैलाना स्टेट एवं भूतपूर्व एडवाइजर, झाबुआ स्टेट वर्तमान् (Member Council) उदयपुर (मेवाड़)

इस पुस्तक के भारी प्रचार से अवश्य ही उत्तम परिणाम निकलेगा और इस का प्रचार खूब हो ऐसी मेरी

भावना है ।

(१९)

श्रीमान् अमृतलालजी सवचंदजी गोपाणी एम. ए.
बड़ौदा कॉलेज, बड़ौदा ।

अपने समाज की कतिपय पुस्तकों की अपेक्षा यह पुस्तक बिलकुल उत्तम है इस में शक नहीं ।

(२०)

श्रीमान् प्रो. घासीरामजी जैन M. Sc, F. P. S.
(London).
विक्टोरिया कॉलेज, ग्वालियर ।

इस पुस्तक के अविरल स्वाध्याय से मुमुक्षु की आत्मा को सच्ची शांति प्राप्त होगी ।

(२१)

श्रीमान् प्रो. बूलचन्दजी एम. ए. इतिहास और राजनीति के प्रोफेसर, हिंदू कॉलेज, दिल्ली ।

" आपने इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है ।

(२२)

श्रीमान् रामस्वरूपजी एम. ए. शास्त्री संस्कृत के प्रो. मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़ ।

यह पुस्तक पाली और प्राकृत भाषाओं की कक्षाओं के लिए पाठ्य ग्रन्थों में रखने योग्य है ।

(२३)

श्रीमान् डाक्टर पी. एल. वैद्य एम. ए (कलकत्ता)

डी. लिट् (पेरिस)

प्रोफेसर संस्कृत और प्राकृत, वाडिया कालेज, पूना

निर्ग्रन्थ प्रवचन इसी तरह जैनियों के धर्म शास्त्रों के उपदेश का सार है। मैं चाहता हूं कि हरएक जैन यह नियम करले कि उस का कम से कम एक अध्याय रोज पढ़े और मनन करे।

(२४)

महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा, एम० ए०

डी० लिट् व्हाइस चान्सलर,

अलहाबाद युनिवर्सिटी।

यह तमाम जैन विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित होगी।

(२५)

प्रोफेसर केशवलाल हिम्मतराम एम० ए०,

बड़ौदा, कालेज।

जैन शास्त्रों में से संग्रह कर ऐहिक, और पारलौकिक ज्ञान का सार बहुत ही स्पष्ट और विद्वत्ता के साथ संग्रह किया गया है।

× × ×

धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले सभी को इसे पढ़ने के लिए मैं अनुरोध करता हूँ।

(२६)

प्रो. शम्भुदयाल यज्ञधारी एम० ए०

महाराणा कालेज, उदयपुर।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन पुस्तक की रचना कर जैन साहित्य की वास्तविक सेवा की है।

(२७)

श्रीमान् के. जे. मशरूवाला, अहमदाबाद।

पुस्तक जनता के लिए अति उपयोगी है।

(२८)

श्रीमान् बाबू कामता प्रसादजी जैन एम. आर. एस.

'वीर' सम्पादक अलीगंज, जिला एटा।

"यह पुस्तक सार्थक नाम है। श्वेताम्बरीय अंग ग्रन्थों से निर्ग्रन्थ महा प्रभुओं के धार्मिक प्रवचनों का संग्रह इस में किया गया है और वह सब के लिए उपादेय है।"

(२९)

श्रीमान् धीरजलालजी के० तुरखिया, ऑ. अधिष्ठाता,

श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर.

जैन धर्म के अभ्यासियों को और विद्यार्थियों का पाठ करने योग्य है। जैन संस्थाओं के पाठ्यक्रम में भी रखने योग्य है।

(३०)

श्रीमान् ज्योतिप्रसादजी जैन मू. पू. सम्पादक,

जैन प्रदीप' (प्रेमभवन) देवबन्द यू. पी.) ।

मैं इस छोटे से संग्रह-ग्रंथ को यदि जैन गीता कह दूं तो कुछ अनुचित न होगा। इससे प्राणी मात्र लाभ ले सकते हैं।

(३१)

श्रीमान् पं० शोभाचन्दजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ,

सम्पादक 'वीर' श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर

यह संग्रह पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है। जैन गुरुकुल में इसे पाठ्यक्रम में नियत किया गया है।

(३२)

श्री परमानंदजी बी. ए., गुरुकुल विद्यालय सोनगढ़

साहित्य में ऐसे ही ग्रन्थों की महती आवश्यकता है। आपने सर्व साधारण को ऐसे सुअवसर से लाभ उठाने का अवसर देकर प्रशंसनीय एवं स्पृहणीय कार्य किया है।

(३३)

श्री पं. भगवतीलालजी 'विद्याभूषण' राजकीय

पुस्तक प्रकाशकाध्यक्ष, जोधपुर।

"यह पुस्तक हरेक धार्मिक पुरुष अपने पास रखें और मनन करके आत्म लाभ उठावें इसमें अपूर्व धर्म का सार दिया गया है।"

(३४)

श्रीमान् सूरजभानुजी वकील शाहपुर तहसील

बुरहानपुर जि. नीमाड़ (वरार)

जैनियों को आरम्भ में यह पुस्तक जरूर पढ़नी चाहिए

(३५)

श्रीयुत कीर्तिप्रसादजी जैन बी. ए. एल. एल. बी.

वकील हाईकोर्ट, बिनोली (मेरठ) ।

सब धर्म-प्रेमी बन्धु और खास कर जैन भाई व बहन इस पुस्तक से पूरा लाभ उठावेंगे ।

(३६)

श्रीमान् भूपेन्द्रसूरिजी महाराज, भीनमाल ।

आपका साशय-पूर्ण उद्योग सफल है । जैन संघ में अत्युपयोगी है ।

(३७)

प्रवर्तक श्रीमान् कान्तिविजयजी महाराज, पाटण ।

संग्राहक-महात्माजी नो परिश्रम सारो थयो छे ।

(३८)

मुनि श्री सुमतिविजयजी, गुजरानवाला (पंजाब)

आपकी महनत प्रशंसनीय है ।

(३९)

जैनाचार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज,

शास्त्र प्रेमी और व्याख्यान दाताओं को तो अवश्य पढ़ने योग्य है।

(४०)

कविवर्य पण्डित मुनि श्री नानचन्द्रजी महाराज

उत्तम रत्नों चूंटी काढ़ी जिज्ञासु वर्ग ऊपर भारे उपकार कर्यो छे एकंदर चूटणी बहु सुन्दर छे।

(४१)

शतावधानी पं० मुनि श्री सौभाग्यचन्द्रजी महाराज

प्रस्तुत ग्रन्थ ना संग्राहकने वाचक वर्गे अवश्य आभार मानवो घटे छे।

(४२)

योगनिष्ठ पं० मुनि श्री त्रिलोकचन्द्जी महाराज

आवकारदायक छे हूं अने सत्कारूं छुं आवा "प्रवचनो" एकज भाग थी अटकी न रहे ए खास सूचवुं छुं।

(४३)

उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी महाराज

मुमुक्षु जनों को अवश्य पठनीय है।

(४४)

वक्ता श्रीमान् सौभाग्यमलजी महाराज

जो प्राकृत का ज्ञान नहीं रखते हैं उन जीवों के लिये भारी उपकार किया है।

(४५)

" जैन महिलादर्श " सूरत वर्ष १२ अङ्क ८ में लिखता है कि—

पुस्तक में गाथा सरल अच्छे हैं। मनन करने योग्य हैं।

(४६)

'दिगम्बर जैन' सूरत वर्ष २६ अङ्क १२ वीर सं० २४५६ पृष्ठ ३११

जैनों को ही नहीं किंतु मानव मात्र के लिए हितकारी है। पुस्तक की नीति पूर्ण गाथाएँ संग्रह करने योग्य हैं। पुस्तक संग्रहणीय व उपयोगी है।

(४७)

'जैन मित्र' सूरत ता० १६-११-३३ में लिखता है

कुल गाथाएँ ३७७ हैं। वे सब कण्ठ करने योग्य हैं। दिगम्बरी भाई भी अवश्य पढ़ें।

(४८)

"जैन जगत्" अजमेर अक्टूम्बर सन् ३३ के अंक में लिखता है—

जैन सूत्र ग्रन्थों के नीति पूर्ण उपदेश प्रद पद्यों का यह सुन्दर संग्रह है।

(४९)

'वीर' मल्हीपुर ता० १६-११-३३ में लिखता है-

संग्रह परिश्रम पूर्वक किया गया है। ह० पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में रखने योग्य है।

(५०)

"अर्जुन" देहली ता० ६-११-३३ में लिखता है-

जैन धर्म सम्बन्धी पाठ्य ग्रन्थों में इस पुस्तक का स्थान ऊंचा समझा जावेगा।

(५१)

"वैंकटेश्वर समाचार" बम्बई ता० १५-१२-३३ में लिखता है-

यह एक सम्मादरणीय ग्रन्थ है पर ज्ञानामृत की प्यास रखने वाले सभी महानुभाव इस से लाभ उठा सकते हैं।

(५२)

"कर्मवीर" संख्या ५० ता. १७ मार्च १९३४ में लिखता है-

भक्ति ज्ञान वैराग्यमय गीता के समान इस पुस्तक को उपदेश ग्रन्थ का रुप देने के लिए संग्राहक महोदय प्रशंसा के पात्र हैं।

(५३)

'बम्बई समाचार' ता० २२ मी जुलाई १९३३ में लिखता है कि-

जैनो तेम जैनेतरो माटे पण एक सरखु उपयोगी छे

(५४)

श्री "जैन पथ प्रदर्शक" आगरा ता० ६ सितम्बर-३३ में लिखता है कि—

प्रत्येक जैनी को पढ़कर के मनन करना चाहिए और जैनेतर जनता में इसका यथेष्ट प्रचार होना चाहिए। प्रत्येक पुस्तकालय में इसका होना जरूरी है।

(५५)

'जैन प्रकाश' बम्बई वर्ष २० अङ्क ४३ ता० १० सेप्टेम्बर १९३३ में लिखता है कि—

मुनिश्री ने आगम साहित्य का नवनीत निकाल कर गीता के समान १८ अध्यायों में विभक्त करके पाठकों के सामने रक्खा है।

× × ×

बहुत उपयोगी संग्रह हुआ है।

(५६)

'जैन ज्योति' अहमदाबाद वर्ष ३ अङ्क ३ में लिखता है—

आ चूटणी नित्य पाठ माटे खूब उपयोगी छे अेमां भाग्येज शंका छे।

(५७)

करांची (सिंध) से प्रकाशित सन १९३४ के २२ वीं दिसम्बर का 'पारसी ससार और लोकमत'

लिखता है कि—

हिन्दी भाषा जाननेवाली प्रजा के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है और प्रत्येक हिन्दी भाषी को अपने घर में मनन करने के लिए रखने योग्य है।

(५८)

सैलाना से प्रकाशित सन् १६३४ के जुलाई के 'जीवन ज्योति' ने लिखा है कि—

निर्ग्रन्थ प्रवचन आध्यात्मिक ज्ञान का अमूल्य ग्रन्थ है। इन उपदेशों से क्या जैन और क्या अजैन सभी समान रूप से लाभ उठा सकते हैं।

(५६)

कलकत्ते से प्रकाशित 'विश्वमित्र' अप्रेल सन् १६३४ के पृष्ठ ११३५ पर लिखता है कि—

जैन धर्म के प्रवर्तक महात्मा महावीर के प्रवचनों का सानुवाद संग्रह किया गया है।

+ + +

अनुवाद की भाषा सरल है।



अवश्य पढ़िये !

ज्ञान वृद्धि के लिये पुस्तकें मंगवा कर वितरण कीजिये,